आचार्य शान्तिदेव का

बोधिचर्यावतार

शान्तिभिक्षुशास्त्री



बुद्धविहार

लखनऊ

आचार्य शान्तिदेव का

बोधिचर्यावतार

अनुवादक

शान्तिभिक्षुशास्त्री

अध्यापक, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन



बुद्धविहार

लखनऊ

२४९९ बुद्धाब्द : १९५५ ई०

प्राप्ति स्थान--

(१) बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ
(२) महाबोधि पुस्तक भण्डार, सारनाथ बनारस
(३) महाबोधि पुस्तक भण्डार, ४-ए. बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता-१२

To be had of—

(1) Buddha Vihara, Risaldar Park, Lucknow. (India)
(2) Maha Bodhi Book Agency, Sarnath, Banaras. (India)
(3) Maha Bodhi Book Agency, 4-A Bankim Chatterjee Street, Calcutta—12. (India)

प्रथमवार

एक हजार प्रतियां

मूल्य १०) रुपया

प्रकाशक--भिक्षु प्रज्ञानन्द, बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ।

मुद्रक--श्री आर. डी. सेठ, दि पायनियर प्रेस, लखनऊ।

आचार्य शान्तिदेव का

बोधिचर्यावतार

शान्तिभिक्षुशास्त्री

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रकाशकीय वक्तव्य

आचार्यपाद स्वर्गीय महास्थविर भदन्त बोधानन्द ने आज से ३० वर्ष पूर्व अपने एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए लखनऊ में इस बुद्ध विहार की स्थापना की थी। निर्वाण गमन के २२ वर्ष पूर्व अपने पश्चात् इस बुद्ध विहार के संचालन की व्यवस्था करते हुए उन्होंने लिखा था——

"मैंने सन् १९१६ ई० में अपने चिर-चिन्तित पुनीत उद्देश्य की सिद्धि के लिए (भारतीय) बौद्ध समिति की स्थापना की जिसका उद्देश्य और कार्य-प्रणाली इस प्रकार है :—

मनुष्य जाति में भगवान् बुद्ध प्रदर्शित उस लोकोत्तर धर्म का पूर्ण रूप से प्रसार करना है जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन में करुणा, मैत्री, समता, संयम, सेवा, सहानुभूति, आदि पवित्र भावों का विकास करें तथा अपने सब प्रकार के दोषों और दुःखों का अत्यन्त निरोध करके इस व्यक्तिगत जीवन के बाद निर्वाण अर्थात् एक अचिन्त्य, सर्वोपरि, नित्य और पूर्ण शांति को लाभ करें।

कार्य——(१) सब प्राणियों के सुख-दुःखों को अपने ही सुख-दुःखों के समान समझना।

(२) जाति-भेद के ऊंच-नीच भावों को दूर करके मनुष्य मात्र में समता और सहयोग का प्रचार करना तथा मानवीय उन्नति-विकास और अधिकार की भावनाओं को जागृत करना।

(३) क : बौद्ध धर्म के विभिन्न दर्शन तथा सिद्धांतों का समन्वय पूर्वक अनुशीलन करना।

ख : अबौद्ध धर्म दर्शन तथा वर्तमान विज्ञान के साथ बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करना।

(४) पाली, प्राकृत, संस्कृत आदि प्राचीन ग्रंथों का तथा आधुनिक खोजपूर्ण रचनाओं का अनुवाद तथा प्रकाशन करना।

(५) भारतीय बौद्ध समाज को संगठित करना तथा बौद्ध संस्कृति और हितों की रक्षा करना।

इस उद्देश्य को सफल बनाने के हेतु मैंने सन् १९२५ ई०, तदनुसार २४६९ बुद्धाब्द में लखनऊ के रिसालदारबाग (पार्क) में एक बुद्ध विहार की स्थापना की। - - - इसमें योग्य बौद्ध भिक्षु रहेंगे तथा अध्ययन-अध्यापन और धर्म-प्रचार करेंगे।

मैंने इस विहार से संबंधित "अनुसंधान पुस्तकालय' की भी स्थापना की है। जिसका उद्देश्य यह है कि बौद्ध, जैन एवं हिन्दू शास्त्रों, पारसियों के धर्म-ग्रंथों तथा फाहियान, ह्वानसांग आदि विदेशीय यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्तों और पुरातत्व विभाग के वैज्ञानिक अनुसंधानों का पक्षपात रहित तुलनात्मक अध्ययन करके भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा, सभ्यता और इतिहास को खोजकर प्रकाश में लाना - - -।"

इसी समय मरणोत्तर की व्यवस्था करने में पूज्य आचार्यपाद ने स्वर्गीय श्री देवमित्र धर्मपाल जी द्वारा संस्थापित महाबोधि सभा को उपयुक्त पाया। जो कि गत ६५ वर्षों से भारत में बौद्ध संस्कृति का पुनरुद्धार और बौद्ध हितों की रक्षा के लिए कार्य करती आ रही है। अतएव इस बुद्धविहार, पुस्तकालय और समिति की उन्नति विकास का कार्य करते हुए स्वर्गीय महास्थविर जी का नाम

और परिचय की स्मृति को जीवित रखने के लिए उनके कार्यों का संचालन करते रहना महाबोधि सभा का कर्तव्य हो गया है।

महास्थविर जी के स्वर्गवास के पश्चात् ही १९५३ ई० में मंगोलिया निवासी भदन्त मंगलहृदय जी से नालन्दा पाली प्रतिष्ठान (इंस्टिटयूट) में भेंट हुई। तभी हमारी प्रार्थना पर उन्होंने लखनऊ विहार में रह कर तिब्बती भाषा एवं साहित्य का अध्ययन-अध्यापन के कार्य में सहयोग देना स्वीकार कर हमारे उत्साह को बढ़ाया और कुछ ही समय में एक पुस्तिका--तथागत-गर्भ-सूत्र--का अनुवाद भी कर दिया।

इसी समय अपने गुरु भाई श्री शान्तिभिक्षु शास्त्री को भी इस नये कार्य की गतिविधि के विषय में सूचित कर प्रतिवर्ष दो महत्वपूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन की अपनी इच्छा एवं अपने आचार्यवर की मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु हाथ बटाने के लिए कहा। हमारी असुविधाएं भी उनसे पूरी तरह विदित हैं। अतः हमारी सहायता का हाथ बंटाते हुए उन्होंने अपनी अनूदित 'बोधिचर्यावतार' की प्रेस कापी तैयार करके तुरन्त हमारे सुपुर्द कर दी तथा परिचयात्मक एक दीर्घ भूमिका, आकर्षक आधुनिक विषय-सूची, अनुक्रमणिका आदि स्वयं तैयार कर, आचार्य शांतिदेव का एक दुष्प्राप्य चित्र भी संग्रह कर हमारे उत्साह को बढ़ाया। वास्तव में स्वर्गीय महास्थविर जी की पुण्यस्मृति में उनके द्वारा प्रतिष्ठापित पीठ के संरक्षण एवं संवर्धन में सहयोग देना उनका भी कर्तव्य हो गया। उनके पीठ से प्रकाशित कराने में उन्होंने बोधिसत्त्वों की चर्य्या का चुनाव किया है। यह उनकी कर्तव्य-परायणता का परिचायक है।

भारतीय वाङ्मय की एक अमूल्य निधि को अपने प्रथम प्रकाशन के रूप में पाठकों के हाथ में देते हुए हमें अतीव प्रसन्नता होती है। तिब्बती भाषा-साहित्य को योजनानुसार हिन्दी में अनूदित एवं प्रकाशित करने के इस पुनीत कार्य में भाई भदन्त मंगलहृदय का हाथ प्रमुख है। हमारे कार्य को सुगम एवं प्रशस्त कर लेने में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री विद्वद्वर डॉ० सम्पूर्णानन्द जी तथा उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग के संचालक श्री भगवतीशरणसिंह जी से विशेष बल मिला है। एतदर्थ हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

इस कार्य में लखनऊ बौद्ध समिति के अध्यक्ष श्री जी. सी. लाल जी का सहयोग न मिलता तो इस शीघ्रता में ऐसी योजना की कल्पना भी सम्भव नहीं थी। प्रूफ संशोधन में सदा की भांति उपासक श्री भूलन प्रसाद जी ने हमारी सहायता की है तथा तिब्बती-चीनी आदि भाषाओं में संगृहीत भारतीय चिंतन-शैली के पठन-पाठन की दिशा में चर्चा करते रहकर डॉ० एच. वी. गुन्थर हमें प्रोत्साहित करते रहे हैं। हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन के पं० श्री हरिशंकर शर्मा का भी प्रूफ-शोधन में योगायोग रहा है। अतः हम इन सबको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने "दो शब्द" लिख कर जो सहयोग दिया है उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

२०--८--५५ भिक्षु ग० प्रज्ञानन्द

लखनऊ

दो शब्द

मेरे प्रिय मित्र विद्वद्वर पण्डित शान्तिभिक्षु जी शास्त्री ने 'बोधिचर्यावतार' की संस्कृत और हिन्दी में व्याख्या लिखकर मेरी एक चिराभिलषित कामना पूरी की है । संस्कृत टीका तो बाद में छपेगी, पर मेरे विशेष अनुरोध से उन्होंने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करा दिया है । मेरा विश्वास है कि यह ग्रंथरत्न अब हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित होकर सहृदय पाठकों को आनन्द और प्रेरणा देगा ।

मैं इस पुस्तक से बहुत प्रभावित रहा हूँ । मानवता का जो रूप शान्तिदेव की इस रचना में निखरा है, वह सब प्रकार से स्तुत्य है । अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में मैंने लिखा था कि "शान्तिदेव, जो गुजरात के राजपुत्र कहे जाते हैं, निस्संदेह बहुत उच्च कोटि के कवि थे । इनके तीन ग्रंथ --शिक्षा-समुच्चय, सूत्र-समुच्चय, बोधिचर्यावतार--बौद्ध लोगों में प्रसिद्ध हैं । अन्तिम पुस्तक प्राप्त हुई है और वह सचमुच ही विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है । कहते हैं; भूसुकपाद नामक सिद्ध से ये अभिन्न हैं ।" आज भी मैं इस पुस्तक को इतना ही महत्वपूर्ण समझता हूँ । वस्तुतः जो भी ग्रंथ मनुष्य की उसके क्षणभंगुर परिसर और सद्यःपाती क्षणिक लाभ के लक्ष्य से ऊपर उठा कर त्याग और परहित-कामना के लक्ष्य तक ले जाने वाली बात इस ढंग से कहता है कि पाठक के हृदय में सीधे और गहरे प्रवेश करता है वह श्रेष्ठ काव्य की कोटि में आता है । यद्यपि 'बोधिचर्यावतार' धार्मिक ग्रंथ है और उसमें दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन भी हुआ है तथापि वह अपने इन महान् गुणों के कारण उत्तम काव्य माना जायगा । मनुष्य का यह दुर्लभ जन्म नित्य नहीं प्राप्त होता । शान्तिदेव भी अन्यान्य भारतीय मनीषियों की भांति मनुष्य-जन्म को केवल भोग-योनि नहीं मानकर पुरुषार्थ-साधक दुर्लभ संयोग माना है । यह क्या मामूली सुयोग है कि आज हमने पुरुषार्थों के साधन करने में समर्थ मनुष्य-शरीर को पाया है ? नरक में नहीं है, प्रेतयोनि में नहीं है, देवता या राक्षस नहीं है, गूंगे या निर्बुद्धिक नहीं है--सुन्दर मनुष्य का जन्म पाया है । इसमें यदि परहित कामना मन में जगी तो फिर कहां जगेगी ? क्या इस प्रकार समागम --समस्त शुभ संयोगों की एकत्र प्राप्ति--प्रतिदिन होती है ?

क्षणसंपदियं दुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ।। १.४ ।।

भागवत में भी कहा है कि यह सुदुर्लभ मानव-शरीर रूपी नौका सुलभ हो गयी है, इस नैया को खेने के लिए सद्गुरु जैसा कर्णधार भी प्राप्त हो गया है और भगवान् की कृपा की अनुकूल हवा तो बह ही रही है, इस समय–इन सुन्दर

संयोगों के प्राप्त होने के दुर्लभ क्षण में यदि मनुष्य भवसागर को न तर सका, तो वह आत्मघाती के अतिरिक्त और कुछ नहीं है--आत्महा, स्वयं अपने आप को मार डालने वाला :--

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुक्लृप्तं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन समीरणेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।

किन्तु बोधिचर्यावतार का कवि-सन्त अपने आपको तारने के लिए उतना चिन्तित नहीं है जितना प्राणिमात्र की दुःख-निवृत्ति के लिए । यह सन्त मुक्ति या निर्वाण नहीं बल्कि सर्वप्राणियोंका क्लेश-शमन करना चाहता है । बोधि-चित्त का साधक अपने निर्वाण की चिन्ता नहीं करता । वह अपने पुण्य का एक ही उपयोग करना जानता है--यदि मैंने कुछ पुण्य किया हो, कुछ शुभ आचरण किया हो, तो उससे समस्त जगत के प्राणियों का दुःख दूर होवे--

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम् ।
तेन स्यां सर्वसत्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ।। १.६ ।।

इतना ही नहीं, वह परिनिर्वाणाभिमुख बुद्धों से हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता है कि वे निर्वाण प्राप्त करने में जल्दी न करें, अनन्त कल्पों तक ठहरें ताकि संसार में अंधेरा न हो जाय और जगत् के दुःखी प्राणी भटक-भटक के मरने न लगें:--

निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः ।
कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत् ।।

कितनी उत्कृष्ट भावना है ? शांतिदेव की भक्तिभावना और अद्भुत श्रद्धा तो उनके ग्रंथ के प्रत्येक अंश से प्रकट होती है । बोधिसत्वों की पूजा करने के लिए वे इतने आतुर हैं कि यदि उनकी चले तो समस्त विश्व के फूल, फल, मणि, रत्न और महार्घ वस्तुएँ--

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव
भैषज्यजातानि यानि सन्ति
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके
जलानि च स्वच्छमनोहराणि

सब बुद्ध-पुत्रों की पूजा में लगा दें । परन्तु इतनी श्रद्धा और भक्ति के होते हुए भी वे मानते हैं कि परहित की बात भी बुद्धपूजा से बड़ी होती है फिर समस्त प्राणियों के सर्वसुख के लिए उद्यम की तो बात ही क्या ?

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते ।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ।। १.७२ ।।

क्या उदात्त भावना है ! प्राणियों की दुःख-निवृत्ति की कैसी उदार चिन्ता है ? इस श्रद्धा और भक्तिरस से उद्वेल ग्रंथ सरोवर में स्नान करने वाले का कलुष दूर हो जाता हो तो आश्चर्य ही क्या है ? किसी भी सम्प्रदाय का मनुष्य हो, इस महती अनुशंसा से निर्मलचेता बन सकता है ।

किन्तु बोधिचर्यावतार केवल भक्ति और श्रद्धा का भाव गद्‌गद् वाक्य ही नहीं है । शान्तिदेव इसमें श्रेष्ठ दार्शनिक आचार्य के रूप में भी आये हैं । प्रज्ञा-पारमिता वाले प्रकरण में वे अपने मत की स्थापना करते समय उत्तम युक्तियों का प्रयोग करते हैं और परपक्ष के निरसन में कठोर तर्क का शस्त्र चलाते हैं। एक तरफ वे अत्यन्त निरीह और आत्मत्यागी भक्त हैं तो दूसरी ओर कठोर तार्किक और कसके जवाब देने वाले वादमल्ल भी हैं --

'इदं ब्राह्मिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि ।'

लेकिन वस्तुतः वे प्राणिमात्र के कल्याणकामी सन्त ही हैं । उनके अन्तस्तल से जो ध्वनि निकलती है और रोम-रोम से उच्चरित होती है, वह यही है, कि कोई दुखी न रहे, रोगी न रहे, पापी न रहे, हीन न हो, परिभूत न हो, दुर्मना न हो--

मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः ।
मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः ।। १०-४१ ।।

बोधिचर्यावतार की मूल स्वर-धारा इसी लक्ष्य की ओर बढ़ती है ।

महायान मत की यह प्राणिहितेच्छा बहुत ही कल्याणकर है । बुद्धदेव के प्रवर्तित मार्ग के तीन यान प्रसिद्ध हैं--हीनयान, महायान और तंत्रयान या वज्रयान । कहा जाता है कि उन्होंने अपने जीवन काल में तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था । प्रथम प्रवर्तन ऋषिपतन (सारनाथ) में हुआ। यही प्रवर्तन ऐतिहासिक है । इसमें श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान आदि मार्गों का प्रवर्तन था, यह उपदेश व्यक्ति को निर्वाण या (मोक्ष) का मार्ग बताता है । इस प्रकार की साधना करने वाले हीनयान के अनुयायी कहे जाते हैं । दूसरी बार धर्मचक्र का प्रवर्तन गृध्रकूट पर और तीसरी बार धान्यकटक में हुआ था । ये दोनों ऐतिहासिक नहीं बल्कि भाव-जगत् से अधिक सम्बद्ध हैं । दूसरे धर्मचक्र के प्रवर्तन का उद्देश्य समस्त जीवों के मोक्ष में आनन्द प्राप्त करने की साधना का उपदेश है । यही महायान है । यद्यपि समस्त प्राणियों को मोक्ष प्राप्त करने में आनन्द अनुभव करने की साधना स्वयं परमसाध्य नहीं है, वह बुद्धत्व-प्राप्ति का साधन-मात्र है, तथापि बोधिसत्त्वों की इस साधना ने ऐसा अद्‌भुत रूप ग्रहण किया है कि वह स्वमेव परमलक्ष्य--जैसी दिखने लगी है। 'बोधिचर्यावतार' इस भावना को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा देता है । बोधिसत्त्व की यह प्रार्थना कितनी महिमामयी है कि 'जगत् का जो कुछ दुःख है वह सब मैं भोगूं और बोधिसत्त्व के किये समस्त शुभकर्मों से संसार सुखी हो'--

यत् किंचिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ॥ १०-५६ ॥

मुझे यह देख कर हार्दिक संतोष हुआ है कि पं० शान्तिभिक्षु जी ने इस पुस्तक का अनुवाद सरल और सुबोध हिन्दी में किया है और आवश्यक स्थलों पर टिप्पणियां लिखकर मूलभाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में पाठकों की सहायता की है। वे बौद्ध शास्त्रों के गंभीर विद्वान् तो हैं ही अन्यान्य भारतीय दर्शनों और साहित्य के भी प्रगाढ़ पंडित हैं। साथ ही उनकी दृष्टि आधुनिक विषयों के अनुशीलन से निर्मल और अन्तर्दर्शिनी बन गयी है। वे यद्यपि प्राचीन शास्त्रों के निष्णात विद्वान् हैं तथापि दुराग्रह और पूर्वग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। ऐसे विद्वान् के इस साधु प्रयत्न से विद्वज्जन अवश्य उपकृत होंगे। एवमस्तु।

काशीविश्वविद्यालय
७-११-५५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

उत्सर्ग

शान्तिदेवपरमैर्निजपुत्रै-

स्तोषमेतु करुणामतिनाथः ।

स्वागतार्थमवलोक्य जनाना-

मग्रयानमुपलब्धमनेन ॥

विषय सूची

ग्रन्थपञ्जी

(Bibliography)

१. बोधिचर्यावतार (मूल कारिका) संपादक I. P. Minayeff, 1889

२. बोधिचर्यावतार (मूल कारिका) नं० १ का प्रतिमुद्रण Journal of the Buddhist Text Society, Calcutta, 1894.

३. बोधिचर्यावतार (मूल कारिका) भोट अनुवाद के साथ । नं० २ की संस्कृत कारिकाएं भोटानुवाद के आधार पर शोधित तथा भोटानुवाद साथ-साथ। पहले मूल श्लोक, फिर उसका भोटानुवाद। हाशिए पर शोधित पाठ। यह मेरी अपनी हस्तलिखित पुस्तक है ।

४. बोधिचर्यावतार पंजिका (बोधिचर्यावतार की मूल कारिकाएँ तथा प्रज्ञाकर-मति की टीका) सम्पादक--La Vallée Poussin, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1901-1914 पंजिका खंडित है । दशम परिच्छेद, ३।२३–३३, ४।१–४५, ८।१०९–८६ इसमें नहीं हैं ।

५. बोधिचर्यावतार (मूल कारिकाएँ तथा बंगानुवाद) कपिलाश्रम, मधुपुर, बिहार से प्रकाशित। इसकी मेरी अपनी प्रति थी, जो अब विद्यालंकार परिवेण, लंका में है। नं० ४ के अनुसार इसमें कारिकाएँ हैं। फलतः जहां पंजिका के खंडित होने से कारिकाएँ नहीं मिलीं वहां उन्हें छोड़ दिया गया है । अनुवादक को नं० १ तथा नं० २ के ग्रंथों का पता न था।

६. English Translation of Bodhicaryavatara By L. D. Barnett, London 1909 यह वस्तुतः संक्षिप्तानुवाद है। विशेष कर नवम परिच्छेद जो दार्शनिक विषय प्रस्तुत करता है, बहुत ही संक्षिप्त कर दिया गया है ।

७. शांतिदेवेर बोधिचर्यावतार (शांति निकेतन से प्रकाशित बोधिचर्यावतार के आठ परिच्छेदों का बंगानुवाद) इस अनुवाद का आधार ग्रन्थ नं० ४ है। आरंभ से लेकर ८वें परिच्छेद के कुछ अंश तक का मुद्रण हो चुका था तब इसके अनुवादक श्री सुजित्कुमार मुखोपाध्याय ने इसकी मुझ से चर्चा की। चर्चा के फलस्वरूप छूटी हुई कारिकाएँ नं० २ तथा नं० ३ के आधार पर परि-शिष्ट में सम्मिलित हो सकीं। इस बात की चर्चा अनुवादक ने मुखबन्ध में यों की है--" La Vallée Poussin का संस्करण किया ग्रन्थ खंडित और अस-म्पूर्ण है । तृतीय परिच्छेद के तेंतीस श्लोकों में से पहले के केवल बाईस, चतुर्थ परिच्छेद के अड़तालीस श्लोकों में से अन्त के केवल तीन, तथा अष्टम परिच्छेद के एक सौ छियासी श्लोकों में से केवल एक सौ आठ इसमें पाये

जाते हैं। दशम परिच्छेद इसमें है ही नहीं। मैंने इसी से अनुवाद किया था। अनुवाद जब प्रायः छप चुका था तब दो स्थानों से शेष श्लोक हस्तगत हुए। हमारे मित्र और सहकर्मी शांतिभिक्षु शास्त्री के पास...... इन श्लोकों की प्रतिलिपि थी तथा चीनभिक्षु भदन्त शुक्लप्रज्ञ के पास (नं० २ की) छपी प्रति।"

८. फ़्रांसीसी और जर्मन तथा इतालियन अनुवादों के लिए देखिए, "M. Winternitiz; A History of Indian Literature Vol. II P. 370 Note 1.

९. प्राचीन समय में इस ग्रन्थ पर लगभग एक दर्जन टीकाएँ हुई थीं। उनमें खंडित प्रज्ञाकर मति की पंजिका को छोड़ शेष सब भोट अनुवादों में ही प्राप्य हैं। चीनी और मंगोल भाषाओं में भी इस ग्रन्थ के अनुवाद हुए थे और प्राप्य हैं।

१०. über Den Quellenbezug Eines Mongolischen Tanjurtextes. Berlin, 1950.
इस जर्मन भाषा में लिखित निबन्ध के अन्त में बोधिचर्यावतार का भोट-रूपान्तर लीथो-मुद्रण-विधि से पाठान्तर सहित छपा है।

चित्रपरिचय

सन् १९४५ में जब मैं बोधिचर्यावतार का अनुवाद कर रहा था, भिक्षुणी चन्द्रमणि जी ने पिलो (कनोर) से बोधिचर्यावतार के भोटानुवाद की एक पोथी मुझे भेजी । यह पोथी, कुन्-ऱ्ङ-चे-ने ल्हा-सा में लकड़ी के ठप्पों द्वारा जो पोथियां धर्मार्थ छपायी थीं, उनमें से एक थी । पोथी के दूसरे पत्र के मुख-पृष्ठ के मध्यभाग में शांतिदेव का एक रेखाचित्र था । चित्र की प्रामाणिकता के बारे में कुछ कहना भोट मनोभाव को स्पर्श किये बिना संभव नहीं है । भारत के सभी प्रधान आचार्यों को भोट में कुछ न कुछ रंग-रूप मिला है । शांतिदेव भी उनमें से अन्यतम हैं ।

मैं इस चित्र को निरलंकृत रूप में ही बोधिचर्यावतार के अनुवाद के साथ जाने देना चाहता था । पर हमारे मित्र श्रीकृपालसिंह शेखावत ने उसे अलं-कृत रूप दे डाला । और चित्र १९४६ में ही मुझे भेज दिया जब कि मैं लंका में था । चित्र भेजा तो गया पर मुझे मिला नहीं । १९४७ में मेरे शान्तिनिकेतन लौट आने पर उन्होंने चित्र की वह प्रति जो अपने लिए रख छोड़ी थी मुझे दी, जो इससे पहले नाना कारणों से काम में न आ सकी । ब्लाक बनाने के लिए चित्र का फोटो हमारे मित्र श्री के० एम० वर्मा ने बड़े श्रम से उतारा है ।

इस प्रसंग में इन सभी कल्याण-मित्रों के प्रति अनुवादक कृतवेदिता का प्रकाश करता है ।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh



Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भूमिका

१ शान्तिदेव और उनकी कृतियां

शांतिदेव का जीवनोपाख्यान

आचार्य शान्तिदेव के संबन्ध में हम बहुत ही कम जानते हैं। संभवतः ये सातवीं शती में विद्यमान थे। लामा तारनाथ के अनुसार ये गुजरात के किसी राजा के पुत्र थे और कुछ समय तक पंचसिंह राजा के मंत्री रहे थे। अन्त में ये भिक्षु हो गये थे। ये जयदेव के शिष्य थे। जयदेव नालन्दा के पीठस्थविर धर्मपाल के उत्तराधिकारी थे। [A History of Indian Literature by M. Winternitz Vol. II pp. 365-366]

महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से प्राप्त तीन तालपत्रों के आधार पर इंडियन ऐंटीक्वेरी (Indian Antiquary 42, 1913, pp. 49-55) में शांतिदेव की जीवनी पर एक निबन्ध लिखा था। उससे इतना ही और विशेष मालूम होता है कि शांतिदेव के पिता का नाम मंजुवर्मा था। नालन्दा में ये एक कुटी बनाकर रहते थे। अत्यन्त शांत होने के कारण इनका नाम शांतिदेव था। ये भुसुक नाम की समाधि में रत रहते थे। अतः इनका नाम भुसुक भी था। (भुंजानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोऽपि कुटीं ततोऽपि तदेवैति भुसुकसमाधिसमापन्नत्वाद् भुसुक नामख्याति संघेऽपि p. 50) चर्यागीतियों में भुसुक के पद हैं। इनके विषय का एक उपाख्यान भी उस जीवनी में है। अत्यन्त शांत एवं सरल होने के कारण छात्र इन्हें बिल्कुल बुद्धू समझते थे। एक दिन धर्मदेशनामंडप में इन्हें आसन पर बिठा दिया। सोचा था कि ये कुछ बोल तो न सकेंगे फिर इन्हें खूब बनाया जायगा। आसन पर बैठकर शांतिदेव ने जिज्ञासा की--किम् आर्षं पठामि, अर्थार्षं वा (=ऋषि वचनों का पाठ करूं अथवा अर्थतः ऋषिवचनों का पाठ करूं) ? यह सुनते ही सब लोग चकित हुए और कहा कि हम लोग आर्ष (=बुद्धवचन) तो बहुत सुन चुके हैं आप अर्थार्ष (=अर्थतः बुद्धवचन) सुनाइये। अनन्तर इन्होंने बोधिचर्यावतार का पाठ करना प्रारंभ किया। पर जब ये

> यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पृथक्।
> तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ [९।३५]

इस कारिका का पाठ कर रहे थे, आर्य मंजुश्री प्रकट हुए और विमान पर बैठा कर स्वर्ग लेकर चले गये। नालन्दा के पंडितों और छात्रों में बड़ी खलबली मची। सबने इनकी कुटी खोजी। तीन ग्रन्थ मिले--शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार। इन सबने इन तीनों ग्रंथों का प्रचार किया।

शिक्षासमुच्चय

आज शांतिदेव की दो कृतियां प्राप्त हैं--शिक्षा समुच्चय * और बोधिचर्यावतार। शिक्षासमुच्चय में आचार्य ने सत्ताईस कारिकाओं द्वारा महायान की धार्मिकचर्या का स्वरूप सूत्र रूप में उपस्थित किया है फिर उन सूत्रों के चारों ओर महायानसूत्रों के उद्धरणों की राशि एकत्रित कर दी है। ये उद्धरण आज अध्ययन की अमूल्य निधि हैं। कारिकाओं में महायान धर्म का जो निरूपण हुआ है उसे यहां ग्रन्थ में प्रवेश कराने के निमित्त दिया जा रहा है।

बोधिसत्त्व सोचता है कि भय और दुःख न तो मुझे ही प्यारा है और न दूसरों को ही। फिर भला मुझमें कौन सी विशेषता है जो मैं दूसरों की तो रक्षा नहीं करता पर अपनी रक्षा में लगा रहता हूँ। दुःख का अन्त करने और सुख का छोर पाने की इच्छा से श्रद्धा के मूल को दृढ़ करके बोधि पाने के लिए दृढ़ यत्न करना चाहिए। बोधिसत्त्व का कर्तव्य है कि आत्मभाव (=शरीर), भोग और त्रैकालिक पुण्यों का प्राणियों के लिए उत्सर्ग कर दे। पर उत्सर्ग तभी हो सकता है जब वह उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि कर सके। फलतः रक्षा, शुद्धि और वृद्धि का उद्देश्य है उनका प्राणिहित के लिए उत्सर्ग कर देना। यदि इनकी रक्षा न की गयी तो भोग संभव ही कहां और वह दान ही कैसा जिसका कि भोग नहीं। अतः प्राणियों को भोग लाभ हो सके, सिर्फ इस ख्याल से इनकी रक्षा बहुत जरूरी है। रक्षा करने में सूत्रों के अध्ययन तथा कल्याण मित्रों की संगति से बहुत सहायता मिलती है। (कारिका १--६) अगली कारिकाओं में बोधिसत्त्व के कर्तव्यों का साधन सहित निर्देश यों हुआ है --

कर्तव्य	साधन
(१) आतमभाव की रक्षा अर्थात् दुष्कर्म-परित्याग	प्राणिमात्र की सेवा को छोड़ सब दूसरे कार्य निष्फल हैं और उन निष्फल कार्यों के त्याग से ही मनुष्य अपनी पूरी रक्षा कर पाता है। स्मृति या जागरूकता से इस अनर्थ का त्याग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। स्मृति उत्कट-आदर या श्रद्धा से होती है। श्रद्धा ज्ञान सहित उत्साह से उत्पन्न होती है जो शम या शांति की महान् आत्मा है। समाहित पुरुष को यथार्थ ज्ञान हुआ करता है और इन ज्ञान के कारण बाह्य चेष्टाओं के रुक जाने से मन शांति से विचलित नहीं होता। बोधिसत्त्व को चाहिए कि सर्वत्र शांत रहे। धीमी-धीमी, मापी-जोखी और स्नेह भरी बातों से सज्जनों का मन नरम बनाये रहे। ऐसा करने से लोग उसे चाहते हैं। लोक में उस जिनांकुर (=बोधिसत्त्व)

* संपादक Cecil Bendal M.A., St. Pètersbourg, (1897-1902)

को जो नहीं चाहता वह राख दबी नरकों की आग में पचता रहता है। बोधिसत्त्व को चाहिए कि जिन बातों से लोग असन्तुष्ट हों उनका यत्न के साथ परित्याग कर दे और इसीलिए तथागत ने संक्षेप से रत्नमेघसूत्र में बोधिसत्त्व के सदाचार का निरूपण किया है। भैषज्य से (मांस-मछली से नहीं) और वस्त्र से ही यह आत्मभाव की रक्षा करनी होती है। भोगों का सेवन भी शरीर-रक्षा के लिए ही करना होता है, तृष्णापूर्ति के लिए नहीं। भोग में तृष्णा रखने से क्लिष्टापत्ति होती है--बड़ा पाप लगता है।(कारिका ७--१३)

(२) भोगरक्षा — पूर्ण रूप से उपायों को जानकर पुण्य करते रहना चाहिए। इस शिक्षापद का आचरण करने से भोगरक्षा सुकर और सहज हो जाती है। (कारिका १४)

(३) पुण्यरक्षा — अपने लिए फल की तृष्णा न रखने से पुण्यों की रक्षा होती है। पुण्य करके कभी पछतावा न करना चाहिए कि मैंने यह क्यों किया, न करता तो भी क्या बिगड़ा जाता था। पुण्य करके उसका ढिंढोरा भी न पीटना चाहिए। बोधिसत्त्व को चाहिए कि लाभ और सत्कार से डरता रहे। अभिमान का त्याग कर दे। धर्म में श्रद्धालु रहे तथा धर्म में अविश्वास न करे [कारिका १५--१६]

(४) आत्मभावशुद्धि — आत्मभाव के शुद्ध हो जाने पर भोग उसी तरह पथ्य होता है जैसे देहधारियों के लिए पका भात, जिसमें किनकी नहीं रहती , हितकर होता है। तृणों से ढकी खेती जैसे रोगों से क्षीण हो जाती है, फलती-फूलती नहीं, वैसे क्लेशों से ढका बुद्धांकुर नहीं बढ़ता। पाप रूपी क्लेशों का शोधन करना ही आत्मभाव की शुद्धि है। बुद्ध-वचनों का सार समझ कर उसके अनुसार यत्न न करने से मनुष्य को दुर्गति भुगतनी पड़ती है। क्षमाशील रहना चाहिए। शास्त्र सुनना चाहिए। वन का आश्रय ले समाधि के लिए यत्न करना चाहिए। समाधि--योग करना चाहिए। संसार के प्रति अशुभ-बुद्धि रखनी चाहिए। [कारिका १७--२०]

(५) भोगशुद्धि — सम्यगाजीव अर्थात् जीविका के समीचीन साधनों की शुद्धि से भोग-शुद्धि होती है। [कारिका २१ पूर्वार्ध]

(६) पुण्यशुद्धि — शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त से (लोक हितार्थ) कार्य

करने से पुण्य-शुद्धि होती है। [कारिका २१ उत्तरार्ध]

(७) आत्मभाववृद्धि — लेने वाले बहुत हैं। देने के लिए यह छोटा सा आत्मभाव। इससे बनेगा क्या? किसी की पूरी तृप्ति नहीं होगी। इसलिए इसे बढ़ाना होगा। बल और अनालस्य का बढ़ाना ही आत्मभाव की वृद्धि है। [कारिका २२–२३ पूर्वार्ध]

(८) भोगवृद्धि — शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त द्वारा दान करने से भोगवृद्धि होती है। (कारिका २३ उत्तरार्ध)

(९) पुण्य वृद्धि — आरंभ से ही दृढ़ संकल्प और दृढ़ चित्त से करुणाभाव को आगे करके पुण्य-वृद्धि करनी चाहिए। श्रद्धा सहित भद्रचर्या-विधि करनी चाहिए। वंदना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना और अध्येषणा का नाम भद्रचर्या है। श्रद्धा, वीर्य,स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों का अभ्यास करना चाहिए। चारों ब्रह्मविहारों की भावना करनी चाहिए। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति संघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति और देवानुस्मृति रखनी चाहिए। सब अवस्थाओं में निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त पुण्यवृद्धि के कारण हैं। चार सम्यक् प्रहाणों द्वारा प्रमाद न करने से, स्मृति और संप्रजन्य तथा गंभीर चिन्तन से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। (कारिका २४––२७)

बोधिचर्यावतार

शिक्षा समुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का विषय एक ही है। भेद निरूपण शैली में है। बिना काव्य का प्रयत्न किये ही आचार्य ने उसे धर्म का काव्य बना दिया है। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय दोनों ही एक दूसरे के पूरक भी हैं। शून्यवाद का प्रतिपादन बोधिचर्यावतार में है पर शिक्षासमुच्चय में उसका नाम-कीर्तन मात्र है। शिक्षासमुच्चय सूत्रों के उद्धरणों से विपुल ग्रन्थ हो गया है पर बोधिचर्यावतार में सूत्रों का यत्र-तत्र संकेत ही है। समूचा बोधिचर्यावतार नौ सौ तेरह श्लोकों में परिनिष्ठित हुआ है। जिसका विरण यों है ––

प्रथम	परिच्छेद	बोधिचित्तानुशंसा	श्लोक-संख्या	३६
द्वितीय	,,	पापदेशना	,,	६६
तृतीय	,,	बोधिचित्तपरिग्रह	,,	३३
चतुर्थ	,,	बोधिचित्ताप्रमाद	,,	४८
पंचम	,,	संप्रजन्यरक्षण	,,	१०९
षष्ठ	,,	क्षान्तिपारमिता	,,	१३४
सप्तम	,,	वीर्यपारमिता	,,	७५
अष्टम	,,	ध्यानपारमिता	,,	१८६
नवम	,,	प्रज्ञापारमिता	,,	१६८
दशम	,,	परिणामना	,,	५८
				९१३

बोधिचर्यावतार किसी समय बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसी कारण इस पर अनेकों टीकाएं हुई थीं। भोट देश में इस ग्रन्थ का पाठ आज भी गीता की भांति होता है। महायान धर्म और दर्शन को सहजभाव से समझने के लिए यह बहुत ही उत्तम ग्रंथ है।

आचार्य शांतिदेव जिस समय हुए थे वह समय ऐसा था जब बौद्धधर्म पूर्ण-रूप से विकसित हो चुका था तथा उसमें उन सब धर्मबीजों का वपन हो चुका था, जिनसे कि गांधी-युग से पूर्व का संतों से प्रभावित हिन्दू-धर्म फूला-फला है। इस धर्म में सुभाषितों का बहुत आदर था तथा प्रत्येक सुभाषित जो जाति-कुल आदि के अभिमान से अछूते रह कर मनुष्य को उदात्त भावों की ओर ले जाते थे उन्हें बुद्धवचन मान लिया जाता था*। धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का समावेश हो चुका था तथा शून्यवाद अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। एक ओर जहां यह सब हो रहा था वहां इस धर्म के सारभाग को ग्रहण करते हुए भी महाभारत और पुराणों के माध्यम से इस धर्म का, विशेष रूप से संसारवैमुख्य तथा जातिवाद-निराकरण के विरोध में भी कार्य हो रहा था। इस प्रतिक्रिया की परिनिष्ठा हम तुलसी के 'मानस' में देखते हैं। इन सब प्रवृत्तियों के विकास की रूपरेखा यहां प्रस्तुत करना आवश्यक है जिसे 'आगमप्रामाण्य का विकास', 'बौद्धधर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास', 'ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्धधर्म की प्रक्रिया के चिह्न' तथा 'भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल' शीर्षकों में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

§§२. आगमप्रामाण्य का विकास

"यत् किंचित् सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्" †

बौद्ध और जैन वेदागम को प्रमाण नहीं मानते, वे अपने-अपने आगमों को प्रमाण मानते हैं। इस तरह ब्राह्मण, बौद्ध श्रमण तथा जैन श्रमणों में जो परस्पर भेद है वह आगम के कारण है। और यह आगम का भेद इसलिये हुआ कि आगम प्रवर्तकों के दार्शनिक विचारों में ही नहीं प्रत्युत् धर्म के व्यावहारिक रूप पर भी भिन्न-भिन्न मत थे। व्यावहारिक और दार्शनिक मतभेदों की चर्चा यहां नहीं की जा सकती पर स्वर्ग-नरक, आवागमन, मोक्ष जैसी बातों में भी जिन पर जनता का बहुत विश्वास था तथा जिनकी चर्चा श्रमण-ब्राह्मण समान भाव से करते थे—परस्पर बहुत भेद था। अदृष्ट या न दिखाई पड़ने वाली बातों के भेद की पुष्टि केवल आगमों द्वारा ही होती थी और हर सम्प्रदाय के लिए उनकी पुष्टि करना जरूरी भी था। अन्यथा अलग-अलग आगमों का टिकना संभव न था। इस तरह

* यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातु संक्लेशनिर्बहणं वचः।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीत मन्यथा ॥
(बोधिचर्यावतारपंचिका पृष्ठ ४३२)

† वही, पृष्ठ ४३२

नाम जुड़े हैं जिनसे पता चलता है कि उनकी रचना, संकलन और सम्पादन उन-उन ऋषियों के द्वारा हुआ है।

जैमिनि को यह मत पसन्द नहीं है। उन्होंने साफ-साफ कहा--

आख्या प्रवचनात्॥ (पू० मी० १।१।३०)

वैदिक ग्रंथों के साथ जो उनके नाम जुड़े हैं उनका इतना ही अभिप्राय है कि उन-उन ऋषियों ने उन-उन ग्रंथों (या मंत्रों) का प्रवचन किया--दूसरों को सिखाया और पढ़ाया; उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन-उन मंत्रों और ग्रंथों की रचना भी उन्होंने की। इस तरह वेदों को किसी की रचना न मान कर जैमिनि ने जिनकी प्रतिभा से मन्त्रों का उदय हुआ तथा वेदों का संकलन एवं सम्पादन हुआ उन ऋषियों के यश पर प्रहार किया तथा उन्हें कोरा तोते के समान वेदों को रट-रट कर दूसरों को रटा देने वाला बताकर ठीक उन श्रोत्रियों (=वेद-पाठकों) के समकक्ष बना दिया जिनका उपहास करते एक कवि ने कहा है--

"राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः।
द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र छान्दसाः श्लोकशत्रवः॥"

(राजन्! द्वार पर श्लोक के शत्रु वेदपाठी कमर पर हाथ रखे दांत--राज-माष के समान दांत--निपोरे खड़े हैं।)

वेदों को किसी की रचना न मानने के सिद्धांत का नाम ही <u>अपौरुषेयवाद</u> है। यद्यपि किसी भी बुद्धिमान् की समझ में इस बात का आना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो सकता है पर उस पूर्व युग में इस ढंग की वार्ता का होना कुछ भी अचरज की बात नहीं थी। इस तरह की असम्भव और अनहोनी बातों का बखान करने में जैमिनि और उनके अनुयायियों को कुछ भी संकोच नहीं हुआ और वे यही समझते रहे कि इस अपौरुषेयवाद के सिद्धांत का आविष्कार कर उन्होंने नाम कमाया है--यश पिया है (यशः पीतम्)। एक परवर्ती तार्किक जयन्त भट्ट ने क्षुब्ध होकर मीमांसकों के प्रति कहा: हां, आप लोगों ने यश जरूर पिया है! आप लोग चाहें यश पियें, चाहे दूध पियें, और चाहे अपनी बुद्धि की जड़ता दूर करने को ब्राह्मी घृत पियें पर इस बात पर संदेह करने की गुंजाइश नहीं है कि वेद की रचना किसी न किसी पुरुष के द्वारा हुई है। भले ही उसकी रचना में कुछ विलक्षणता हो पर विलक्षणता के बल पर यह कह देना कि उसकी रचना किसी ने की ही नहीं, यह तो बिल्कुल नयी सूझ है:--

"मीमांसका यशः पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मीघृतं वा पिबन्तु। वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः।............वैचित्र्यमात्रेण वेदे कर्त्र-भावो रूपादेव प्रतीयते इति नूतनेयं वाचो युक्तिः।"

--न्याय मञ्जरी, आह्निक ४.

अपौरुषेयवाद के सिद्धांत का सहारा लेकर 'वेद नित्य हैं' का सिद्धांत भी उठ खड़ा हुआ। जिनके मत में वेद किसी की रचना नहीं, उनके मत से वेद को नित्य

होना ही चाहिए। पर वेद की नित्यता केवल यह कहकर नहीं सिद्ध की गयी: "चूंकि वेदों की रचना करने वाला कोई नहीं है इसलिए वे नित्य हैं," किन्तु उनकी नित्यता सिद्ध करने के लिए शब्द (=वर्ण) मात्र को मीमांसकों ने नित्य माना। यहां शब्द (=वर्ण) की नित्यता आदि के झंझट में फंसना ठीक न होगा पर यदि उन्हें नित्य मान लिया जाय, उन्हें ही नहीं वर्णों से बने पदों तक को भी नित्य मान लिया जाय तो भी वाक्यों की नित्यता सिद्ध करना कठिन कार्य है। वेद के वर्ण, पद और वाक्यों को नित्य मानना पर अश्वघोष और कालिदास के ग्रंथों म उन्ह अनित्य मानना सचमुच निराली सूझ है। शाब्दिक नित्यवाद को इस जगह छेड़ना ठीक न होगा। यहां उसका उल्लेख कर देने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि इस वाद का अपौरुषेयवाद से बहुत संबंध है। इन दोनों वादों का जैमिनि ने प्रतिपादन किया है। वादरायण को भी जैमिनि से विरोध नहीं है। देवताधि-करण में वादरायण ने साफ-साफ वैदिक नित्यत्ववाद का प्रतिपादन किया है। वेद की नित्यता और उसकी अपौरुषेयता द्वारा जैमिनि और उनके अनुयायियों ने भले ही वेद के प्रति लोगों की श्रद्धा को न डिगने दिया हो पर वादों द्वारा साधा-रण जनता को ही नहीं बुद्धिमानों की बुद्धि पर पोथी-भार लाद कर बुद्धि के विकास को जरूर कुंठित किया। यदि वेदों के प्रति यह धारणा बनी रहती कि वे पूर्वयुग के पुरुषों की रचनाएँ हैं और वे भी हमारे जैसे ही थे, उनमें भी सब गुण ही गुण न थे; तो कदाचित् वेद के अनुयायियों को बहुत विचार-स्वतन्त्रता रहती और वेद की बातों को मानने या न मानने में उन्हें कोई मजबूर न कर सकता। जैमिनि के पहले इतनी मजबूरी थी भी नहीं। वेद के वचनों को लोग ऋषियों की कृति मानते थे और वेद की आज्ञा को राजाज्ञा के समान मानने को तैयार न थे। उनमें उस समय इतनी हिम्मत थी कि वे कह सकें कि मन्त्रों की रचना में कितनी जगह अर्थ स्पष्ट नहीं है, कितनी ही जगह विरोध है --

"अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति ....अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।"

—निरुक्त, अध्याय १ खंड १५

वेदों के संबंध में यह और इस तरह की आलोचनाओं से संबंध रखने-वाले दूसरे विचार यास्क ने अपने निरुक्त में संकलित किये हैं। जैमिनि ने भी इस तरह के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर उन्हें मरने से बचाया है। वे विचार इतना तो प्रकट कर ही देते हैं कि वेद को कितने लोग अपौरुषेय या नित्य न मानकर प्राचीन ऋषियों की रचना मानते थे और उस रचना में उन्हें बहुत से दोष भी दिखलाई पड़ते थे।

विचार स्वतन्त्रता की हत्या जैमिनी ने वेदों को अपौरुषेय और नित्य सिद्ध करके की, पर वे लोग जो किसी भी आगम को नित्य और अपौरुषेय नहीं मानते थे दूसरे तरीके से वही बात करने में न चूके। जैमिनि का ख्याल था कि जो अपौरुषेय एवं नित्य है वही निभ्रान्त है, उसमें किसी भूल-चूक की गुंजाइश नहीं। अक्षपाद और कणाद के अनुयायियों को यह बात न जंची। उन्होंने सोचा कि अपौरुषेयता और नित्यता को तर्क और बुद्धि से सिद्ध करना कठिन है, इसलिए

वेदों का रचयिता तो कोई-न-कोई होना चाहिए और उन्होंने ईश्वर को वेद का रचयिता माना। उनके ख्याल से ईश्वर का ज्ञान पूर्ण और नित्य है, इसलिए यदि वेदों को उसकी रचना मान लिया जाय तो वेदों की प्रामाणिकता भी सिद्ध होगी और वेदों में कोई भूल-चूक भी न निकाल सकेगा। यद्यपि भूल-चूक निकालने वाले लोग सदा बने ही रहते हैं। वे केवल इतने भर से चुपचाप नहीं बैठ सकते कि वेद अपौरुषेय हैं या वेद किसी सर्वज्ञ एवं निर्भ्रान्त पुरुष अथवा ईश्वर की रचना है। अक्षपाद ने इस प्रकार के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि वेद की बातें सच्ची नहीं उतरतीं। पुत्र-उत्पत्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिए यह वेद की आज्ञा है पर पुत्रेष्टि यज्ञ करने वालों को भी बहुत करके पुत्र नसीब नहीं होता। यह बात वेद को झूठा साबित करती है। --उसमें अनृत--दोष है, इस बात को प्रकट करती है। अक्षपाद ने इस बात को यह कहकर उड़ा दिया है कि पुत्रेष्टि यज्ञ करने में कुछ गड़बड़ी हो जाने के कारण यदि पुत्र नहीं हुआ तो उसमें ठीक-ठीक यज्ञ न करने वालों का दोष है। इससे वेद की सचाई पर कुछ भी धब्बा नहीं लगता। (विस्तार के लिए देखिए--न्याय सूत्र अध्याय २ आह्निक १ सूत्र ५८--६१)।

जिन लोगों ने ईश्वर को आगमों का प्रवर्तक न मान मनुष्यों को ही उनका प्रवर्तक माना उन्होंने भी विचार-स्वतन्त्रता पर कम आक्रमण नहीं किया। सांख्य सम्प्रदाय में कपिल को आप्त या यथार्थज्ञ माना। जो बात कपिल ने कही, वही प्रामाणिक है दूसरी नहीं। कपिल के अनुयायियों ने कपिल को लोकोत्तर स्थान पर बिठाया तो, पर वे वेद के विरोध में कुछ भी बोलने को तैयार न थे। फलतः उन्होंने यह भी कहा कि कपिल का उपदेश सर्वथा वेदानुकूल है। इस तरह कपिल को वेदानुकूल बताकर उन्होंने कपिल की बुद्धि का अपमान किया। परम्परा में कपिल को आदि विद्वान् कहा जाता है, पर उनके अनुयायियों को कपिल की विद्वत्ता वेद के उच्छिष्ट भोजन से अधिक नहीं जंची। कपिल को एक स्वतन्त्र विचारक न मानकर उनको वेद की बातों को दुहरानेवाला बताने पर भी वेद के कट्टर अनुयायियों द्वारा वे कपिल को वैदिक न सिद्ध करा सके। वादरायण ने अपने सूत्रों में अनेक स्थानों पर साफ-साफ कपिल के मत को वेद-विरोधी बताया। जो भी हो, इतना तो कहा जा सकता है कि सांख्य वालों ने एक बार हिम्मत कर अपौरुषेयता और ईश्वरीयता के पचड़े से अपने को निकाला, भले ही वैदिकता का ममत्व उनसे नहीं छूटा।

विचार-स्वतन्त्रता में बौद्ध और जैन वैदिकों से कुछ बढ़े हुए थे। कुछ, इसलिए कि उन्होंने वेद और ईश्वर से छुटकारा तो जरूर पा लिया, पर अपने-अपने धर्मप्रवर्तक के वचनों को उसी तरह प्रमाण माना जिस तरह वैदिकों ने वेद को। फलतः उनकी मानसिक दासता पूरे तौर पर दूर न हो पायी। वे एक बंधन से छूटे पर दूसरे में बंधे। यहां संक्षेप से यह देखना है कि जैनों और बौद्धों का अपने शास्ता के प्रति क्या झुकाव है।

जैन लोग आरम्भ से ही अपने धर्म के प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर को सर्वज्ञ मानते थे। 'अचारांग सूत्र' में कहा है :--

"से.....जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी"

वे केवली जिन सर्वज्ञ और सब पदार्थों के द्रष्टा हैं। 'आवश्यक निरुक्ति' में कहा है --

"तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च"। (गाथा १२७)

भूत, भविष्यत् और वर्तमान की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे वे नहीं जानते ।

बौद्ध साहित्य से भी वर्धमान महावीर के सर्वज्ञ होने की प्रसिद्धि पर प्रकाश पड़ता है। 'मज्झिमनिकाय' के 'चूलदुक्खक्खन्धसुत्त' (सूत्र १४) में कहा गया है कि "निगण्ठ नाथपुत्त (=जैन तीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ" (हैं) । 'सन्दकसुत्त' (७६) में यही बात मज़ाक के साथ दुहरायी गयी है। "एक शास्ता सर्वज्ञ........होने का दावा करते हैं.......वह सूने घर में जाते हैं, (जहां) भिक्षा भी नहीं पाते, कूकुर भी काट खाता है। ....(सर्वज्ञ होने पर भी) ......गांव-कस्बे का नाम और रास्ता पूछते हैं।"

बौद्ध लोग बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हैं। यद्यपि त्रिपिटक में कुछ उल्लेख ऐसे भी हैं जिनमें बुद्ध ने अपनी सर्वज्ञता से इन्कार किया है। 'तेविज्ज वच्छगोत्त सुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ७१) में बुद्ध ने कहा है: "जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं--श्रमण गौतम सर्वज्ञ है।'.... (वे) असत्य (-अभूत) से मेरी निन्दा करते हैं।" पर इतने उल्लेख भर से बुद्ध की सर्वज्ञता से इनकार नहीं किया जा सकता और किया भी कैसे जाय ? सर्वज्ञता के सूचक वचन तो जा-बजा त्रिपिटक में भरे पड़े हैं। नागसेन ने अपने 'मिलिन्दपञ्ह' में बुद्ध को सर्वज्ञ बताया है --"...बुद्ध सर्वज्ञ थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे हर घड़ी हर तरह से संसार की सभी बातों की जानकारी बनाये रखते थे। उनकी सर्वज्ञता इसी में थी कि ध्यान करके वे किसी भी बात को जान ले सकते थे।" (हिन्दी मिलिन्द प्रश्न पृ० १२९)। जिस तरह की बात नागसेन ने कही है वैसी ही बात 'कण्णत्थलकसुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ९०) में कही गयी है, "ऐसा श्रमण-ब्राह्मण नहीं जो एक ही बार सब जानेगा। यह संभव नहीं।" एक बार में न सही, पर जब जो कुछ जानना जरूरी हो, तब उसको जान लेना बुद्ध के लिए संभव है। इस तरह तीर्थंकर की सर्वज्ञता और बुद्ध की सर्वज्ञता में कुछ भेद रह गया। तीर्थंकर सदा सब कुछ देखते रहते हैं और बुद्ध जब जिसकी जरूरत पड़ती है तब देख या जान लेते हैं। शांतरक्षित ने और 'तत्त्वसंग्रह' में इस बात को दोहराया है --

"यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः ।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ ॥"

समाधि द्वारा वे जिस बात को जानना चाहते हैं जान लेते हैं । उनकी शक्ति ऐसी ही है। उनका आवरण (=अज्ञान) दूर हो चुका है।

बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हुए भी बौद्धों ने सर्वज्ञता पर जोर नहीं दिया है। सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर ही जोर दिया गया है। धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-वार्तिक' में कहा है कि बुद्ध को बौद्ध इसलिए प्रमाण मानते हैं कि वे उपायसहित हेय और उपादेय तत्त्वों को बतलाते हैं। इसलिए नहीं कि वे सब कुछ जानते हैं——

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥

भारतीय दर्शन की बौद्ध और जैन शाखा ही नहीं दूसरी शाखायें भी इस सर्वज्ञतावाद से अछूती नहीं बची हैं। मीमांसा के दूसरे सूत्र "चोदनालक्षण-ऽर्थो धर्मः" पर शबर ने कहा है कि वेद के विधिवाक्यों (—चोदना) में भूत, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित अर्थात् छिपे हुए और दूर पर विद्यमान सब तरह के अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति है ——

"चोदना हि भूतं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं
विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्॥"

सीधा अभिप्राय यह कि वेद सर्वज्ञ हैं। बादरायण के ब्रह्म की सर्वज्ञ-वाबिता में सन्देह का अवकाश नहीं, उनके ब्रह्म को सर्वज्ञ ही नहीं और भी बहुत कुछ कहा जाता है। "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" (ब्रह्मसूत्र २–१–३७) ब्रह्म में सभी धर्मों का सामंजस्य है। शंकर ने खोल कर इस सूत्र के भाव को समझाया है ——

"ब्रह्मणि......सर्वे.....धर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति।"

ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति स्वरूप है, उसकी माया महान् है, उसमें सब धर्मों का समन्वय हो जाता है।

कणाद ने योगियों में सब कुछ जान लेने की शक्ति मानी है। उन्होंने कहा है कि आत्मा और मन के संयोग-विशेष से (समाधि से) आत्मा का ज्ञान होता है तथा अन्य द्रव्यों का भी। सरल शब्दों में कहें तो भाव यह है कि योगी समाधि द्वारा सब कुछ जान लेते हैं ——

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्। तथा द्रव्यान्तरेषु। (वैशेषिक सूत्र ९।१।११, १२)

कणाद के मूल सूत्रों में ईश्वर का पता नहीं है। पर बाद में कणाद के अनुयायियों ने आत्मा के दो भेद किये ——जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर में उन्होंने सर्वज्ञता मानी तथा उसे वेद का कर्ता बताया। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशेषिक सूत्र १–१–१) का अक्षरार्थ इतना ही जान पड़ता है कि आम्नाय या वेद इसलिए प्रमाण है कि उसमें तद्ववचन (=धर्म का कथन) है। सूत्रों के क्रम को देखने से 'तत्' शब्द से धर्म का ही बोध होता है। 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'॥१–१–१॥'यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धिः स धर्मः'॥१–१–२॥'तद्ववचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ॥१–१–२॥ इनमें पहले सूत्र में कहा है कि अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे। दूसरे में कहा है अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति जिससे

होती है वह धर्म है। तीसरे में कहा है कि तद्ववचन या धर्म का कथन चूंकि वेदों में है इसलिए वे प्रमाण हैं। पर प्रशस्तपाद ने तद्ववचन का भाव 'ईश्वरचोदना-भिव्यक्ते' बताया है। शंकर मिश्र ने 'उपस्कार' में स्पष्ट ही कहा है कि वेद की प्रमाणता इसलिए है कि वे ईश्वर की रचना हैं --

" तेनेश्वरेण प्रणयनाद् वेदस्य प्रामाण्यम् ।।"

अक्षपाद ने शब्द-प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द-प्रमाण आप्त या पहुँचे हुए लोगों के उपदेश हैं जिनमें दृष्ट और अदृष्ट दोनों का वर्णन है। "आप्तोपदेशः शब्दः । स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।।" (न्याय सूत्र अध्याय १ आह्निक १)। दृष्ट और अदृष्ट जो दोनों ही जानते हैं उनकी सर्वज्ञता में संदेह की गुंजायश नहीं हो सकती। वैशेषिक सूत्रों की तरह न्याय सूत्रों में भी स्पष्टतया न तो ईश्वर को वेद का कर्ता कहा गया है और न उसकी सर्वज्ञता कहीं बतायी गयी, पर यह बात बाद में अक्षपाद के अनुयायियों ने कर ली है। (विस्तार के लिए देखिए-'न्याय मंजरी', शब्द-प्रमाण प्रकरण)।

योगदर्शनकार पतंजलि योगियों में सर्वज्ञता मानते हैं योगियों को संयम के बल से अन्तिम भूमि में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे तारक कहते है। वह सब विषयों तथा विषयों की सब-सब अवस्थाओं का ज्ञान है जिसके लिए किसी क्रम की जरूरत नहीं, योगी एक बार में ही करतलामलकवत् जान लेता है--

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। (योगसूत्र ३-५४)

ईश्वर के बारे में कहा है कि उसमें सर्वज्ञता का बीज है और वह बीज उसमें निरतिशय या पराकाष्ठा को प्राप्त है। वह काल के बन्धन में नहीं है, वह पुराने ऋषियों का गुरु है --

तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम् [स] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। (योगसूत्र १-२५, २६)

कपिल के मत में आप्तवचन द्वारा ही परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष की जहां पहुँच नहीं है वहां अनुमान पहुँच सकता है पर जहां अनुमान की भी पहुँच नहीं वहां आप्त-वचन या ऋषिप्रणीत आगम के द्वारा ही ज्ञान होता है --

"तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।।" (सांख्य कारिका ६)

आप्त या पहुँचे हुए पुरुषों के वचनों पर जहां इतनी आस्था है वहां उनकी सर्वज्ञता के बारे में ननु-नच करने की अपेक्षा ही नहीं। कपिल के अपने वचन आज हमारे पास नहीं हैं, इसलिए सर्वज्ञतावाद पर उनका निजी विचार क्या था, हम कुछ नहीं कह सकते। ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिकाओं से इतना पता चलता है कि वे आप्त पुरुषों की सर्वज्ञता पर भले ही विश्वास करते हों और आप्त वचन होने के कारण भले ही वेदों को प्रमाण मानते हों पर ईश्वरवाद के समर्थक न थे। पर बाद में कपिल पर ईश्वरवाद भी लादा गया तथा मीमांसकों का

अपौरुषेयवाद भी। ईश्वरवाद तो लदते-लदते बच गया, पर पता नहीं कि कपिल के किस दुरदृष्ट से किसी ने 'सांख्य प्रवचनसूत्र' गढ़ कर कपिल के मुंह से ही कहलवा दिया कि वेद अपौरुषेय हैं क्योंकि उनके रचयिता पुरुष का पता नहीं ——

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावत्। (सांख्य प्रवचन सूत्र २।४६)

जो भी हो, हमने ऊपर देखा है कि भारत की प्रायः सभी दार्शनिक शाखाओं में सर्वज्ञतावाद ओतप्रोत है। सर्वज्ञतावाद का जामा पहनकर ही वे सभी वाद जिनका हमने आरम्भ में ही संकलन कर दिया है अपनी-अपनी बात सुनाते हैं। खासकर अदृष्ट जगत् को सिद्ध करने के लिए सबको सर्वज्ञतावाद की जरूरत थी। यह सर्वज्ञतावाद चाहे वेद के साथ जोड़ा जाय, या ब्रह्म के साथ, अथवा ईश्वर के साथ, किंवा वर्धमान महावीर, बुद्ध, कपिल, कणाद, अक्षपाद, पतंजलि अथवा दूसरे ऋषि-मुनियों के साथ, सबका अभिप्राय है: 'दृष्ट जगत् पर अदृष्ट के बोझ को लादना।' अदृष्ट के भार को जनता के माथे लाद उसे दृष्ट जगत् के प्रति उदासीन बनाने में भारतीय दर्शनों ने कोई कोर-कसर न उठा रखी। दार्शनिक स्वयं भी दृष्ट जगत् के विषय में सचेत न थे। दृष्ट जगत् विषयक उनका अज्ञान आज उतना ही रोचक है जितना कि कोई ऐन्द्रजालिक उपन्यास। इस धरती पर रहते हुए उन्होंने धरती का जो वर्णन किया है उस पर आज शायद ही कोई विश्वास करे। पर उन्होंने जो दूसरे अदृष्ट जगत् का बखान किया है उससे आज भी लोग मोहित हैं। इस पराधीन वृत्ति में भी जो अभूतपूर्व बात हुई है, वह है जनता में सुभाषितों के प्रति अनुराग की भावना का जागरण। यदि यह सहज भावना न होती तो नाना धर्मपन्थ के प्रवर्तकों की कथा कोई न सुनता। धार्मिकों के द्वारा जनता का शोषण इस भावना के कारण हुआ है। पर इस शोष्य-शोषण भाव के होते हुए भी दूसरा भाव भी रहा है। जनता को सीखने का बहुत-कुछ अवसर मिला है तथा इस प्रकार की शिक्षा देने वालों को अर्थ के अतिरिक्त अभूतपूर्व सम्मान मिला है।

§§३. बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास

बौद्धधर्म में मनुष्य के व्यक्तिगत विकास और मुक्ति के लिए तीन शुद्धियों पर जोर दिया गया है। पहली है "शीलविशुद्धि" जिसके लिए बुद्ध ने कायिक और वाचिक सदाचारों का प्रतिपादन किया है। कायिक सदाचारों में काममिथ्याचार से विरत रहने पर बहुत जोर दिया है। बुद्ध के समय और उससे पहले भारत में यौन-सदाचार का भाव बहुत ही शिथिल था। अध्यात्मवादी ऋषि-मुनि भी यौन संबंध में कोई दोष न समझते थे। इस विषय के उदाहरण इतिहास और पुराणों में भरे पड़े हैं। जिनमें तपस्वी ऋषियों के यौन-संबंध का वर्णन है और उस यौन-संबंध के कारण उन्हें पतित नहीं कहा गया। यद्यपि आज के समाज में उस प्रकार यौन-संबंध करने वाले को समाज में मुंह दिखाना भी कठिन हो सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में सामोपासना को मिथुन-भाव पर घटाते हुए कहा है: उपमन्त्रण१

हिंकार है, ज्ञापन २ प्रस्ताव है, स्त्री के साथ शयन उद्गीथ है, स्त्री के साथ अभिमुख शयन प्रस्ताव है, (द्वय-समापत्ति) में जो समय जाता है और उसका जो पार होना है वह निधन है। यह वामदेव्य (साम) मिथुन में ओतप्रोत है। मिथुन में ओत-प्रोत इस वामदेव्य (साम) को जो जानता है वह मिथुनीभाव से रहता है,.....पूर्णायुष्य को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। उसका व्रत है कि "न कांचन परिहरेत् ।" शंकराचार्य के शब्दों में इसका अर्थ है "न कांचन कामयमानां परित्यजेत्"। वामदेव्य साम का उपासक ब्रह्मचर्य के विषय में कितना शिथिल है यह इतने से खूब स्पष्ट है। बुद्ध के समय यौन-संबंध की किस बेहूदगी से चर्चा होती थी इसका पता हमें विनयपिटक में षड्वर्गीय भिक्षु और भिक्षुणियों के वृत्तान्त से अच्छी तरह मिल जाता है। बुद्ध के पहले के समय में तो इस प्रकार का फूहड़पन अपनी सीमा को पार कर गया था। ऋग्वेद में इन्द्र का रोमशा ब्रह्मवादिनी के साथ संवाद हुआ है। उस संवाद को हिन्दी अनुवाद के द्वारा बढ़ाना बहुत ठीक बात नहीं है। (देखिए—बृहद्देवता अध्याय ४। ऋग्वेद १।१२६।७)

इतने से हमें इस बात का पता पूरे तौर पर चल जाता है कि बुद्ध के समय और उससे पहले यौन-संबंध की किस तरह खुल्लमखुल्ला चर्चा होती थी और वामदेव्य साम के उपासक जैसे धार्मिक लोग भी थे जिनके धर्म में यौन-संबंध का महत्वपूर्ण स्थान था। इसके साथ बुद्ध ने जो काममिथ्याचार से विरति और ब्रह्मचर्य पर इतना जोर दिया उसका कारण भी समझ में आ जाता है। सचमुच यदि उस काल में यह पशुधर्म इतने जोरों से फैला न होता तो शायद बुद्ध को एतत्संबंधी सदांचार पर बहुत जोर न देना पड़ता। इसके अतिरिक्त उस समय मद्य और मांस का भी खूब रिवाज था। भोजन के लिए और यज्ञ के लिए पशुओं का वध होता था। धर्म में भी मदिरा का स्थान था। सौत्रामणि जैसे यज्ञों में खुल्लमखुल्ला मदिरा का उपयोग होता था। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्राणिवध एवं मद्यपान से विरत रहने का उपदेश दिया। साथ ही साथ स्वार्थवश युद्ध और लड़ाई झगड़े से जो खूनखराबी होती थी उससे भी विरत रहने पर बहुत जोर दिया।

दूसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "चित्तविशुद्धि"। इसके लिए बुद्ध ने समाधि भावना का उपदेश दिया जो बुद्धयुग के लिए नयी बात थी। बुद्ध से पहले श्रमण और ब्राह्मण समाधि भावना का अभ्यास आत्मसाक्षात्कार के लिए करते थे। आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त विविध प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी समाधि भावना का अभ्यास किया जाता था। इन ध्यान में लीन श्रमणों के उपदेश को लोग सादर सुनते थे और उनकी पूजा करते थे। धनी राजाओं और श्रेष्ठियों की अपेक्षा इन अकिंचन तपस्वियों का बहुत मान था। धनी से लेकर गरीब तक, पंडितों से लेकर मूर्ख तक, सभी उन्हें पूजते थे। तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण ऋषियों का यों जिक्र है:—"वातरशन ऋषि श्रमण

---

२. उपमन्त्रण=संकेत करना, ज्ञापन=धनादि से संतुष्ट करना।

और ऊर्ध्वरेतस् थे। कुछ दूसरे ऋषि मतलब से उनके पास आये (अर्थमायन्)। वे वातरशन ऋषि कूष्मांड मंत्रों में छिप रहे। दूसरे ऋषियों ने श्रद्धा और तप से उन्हें जान लिया और उनसे कहा। क्यों छिप रहे हो? वे बोले: भगवन्, तुम्हें नमस्कार हो, इस जगह किस चीज से खातिर करूं। ऋषियों ने उनसे कहा, जिससे हम पाप से परे हो सकें वैसा उपदेश दें। तब उन्होंने इन सूक्तों को देखा (और उन्हें उपदेश दिया)। प्रपाठक ३, अनुवाक ७।" बुद्ध के समय तो अनेक श्रमण ब्राह्मण थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था और समाधि संबंधी चर्चा सब जगह खूब होती थी। कुरुदेश में एतत्संबंधी चर्चा बहुत साधारण बात थी। सतिपट्ठानसुत्त की अट्ठकथा में जिक्र है कि वहां "दास और कर्मकर नौकर-चाकर भी स्मृत्युस्थान संबंधी कथा ही को कहते हैं। पनघट और सूत कातने के स्थान आदि में भी व्यर्थ की बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री अम्म! तू किस स्मृत्युस्थान की भावना करती है? पूछने पर नहीं बोलती है तो उसको धिक्कारते हैं—धिक्कार है तेरी ज़िंदगी को, तू जीती भी मुर्दे के समान है। फिर उसे कोई एक स्मृत्युस्थान सिखलाते हैं।" बहुत स्पष्ट है कि बुद्धयुग में समाधि भावना की चर्चा आरण्यक श्रमणों और ब्राह्मणों में ही नहीं जनसाधारण के बीच में भी खूब हुआ करती थी।

तीसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "दृष्टि विशुद्धि"। दृष्टिविशुद्धि के लिए बुद्ध ने विश्व को पांच स्कन्धों में विभक्त करके प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उन्हें अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील बताया। इसी सिद्धांत के सहारे बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद अर्थात् "यत् सत् तत् क्षणिकम्" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धांत के सहारे नागार्जुन ने सापेक्षतावाद अर्थात् "किसी पदार्थ की स्वाभाविक सत्ता है ही नहीं" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसे ही शून्यवाद कहा जाता है। बाद में नागार्जुन के इस सिद्धांत से प्रभावित होकर असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का विकास किया। बाह्य जगत् को मिथ्या या असत् मानकर विज्ञान स्कन्ध के परिणाम द्वारा विश्व के विकास को बताना विज्ञानवाद है। आगे चलकर हम देखेंगे कि तांत्रिक प्रवृत्तियों के समर्थन में इन दार्शनिकवादों का बहुत बड़ा हाथ है।

इन तीन प्रकार की शुद्धियों को स्वीकार करते हुए महायान ने कुछ अन्य आदर्शों का प्रचार किया जिनके बारे में हीनयानी लोग तटस्थ से थे। इन्होंने बोधिसत्त्वों की चर्या को अपना आदर्श माना और स्पष्ट रूप से घोषणा की :—

"मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥" (बोधिचर्यावतार)

दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द...मिलता है वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें लेना-देना ही क्या? एवं अपने लिए मोक्ष को ठुकरा कर प्राणिमात्र के मोक्ष के लिए यत्न करने का व्रत लेने की

लहर चली और इसने जनता के हृदयों को बहुत कोमल और दुःख-सहिष्णु बना दिया। भारत की आज भी साधारण मनोवृत्ति दुःख सह लेने की है, दूसरों को दुःख देने की नहीं।

बोधिसत्वों की चर्या के मर्मस्थान का शिक्षासमुच्चय में यों जिक्र है :—

"आत्मभावस्य भोगानां त्र्यध्ववृत्तेः शुभस्य च
उत्सर्गः सर्व सत्त्वेभ्यस्तद्रक्षाशुद्धिवर्धनम्।"

सम्पूर्ण प्राणियों के हित के लिए अपने आत्मभाव (मनोवचन सहित शरीर) अपनी भोग सामग्री और अपने पुण्य का उत्सर्ग कर देना चाहिए और उत्सर्ग के लिए ही उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि करनी चाहिए।

आत्मभाव की शुद्धि तो उन तीन विशुद्धियों से हो सकती है जिनका कि ऊपर जिक्र हो चुका है। पर रक्षा और वृद्धि उनसे नहीं हो सकती। शरीर-रक्षा के लिए महायान में भौतिक साधन बहुत ही विरल हैं। केवल भोजन और वस्त्र से शरीर रक्षा का विधान है पर भोजन हीनयानियों का भोजन नहीं है जिनमें मत्स्य और मांस का सेवन बुरा नहीं समझा जाता। बोधिसत्वव्रतियों के भाग्य में भैषज्य (कन्द, मूल-फल अन्न आदि) ही भोजन का काम दे सकती है और भैषज्य का सेवन भी वितृष्ण होकर करना होगा नहीं तो पाप से बचा नहीं जा सकता। इसीलिए शिक्षा-समुच्चय में कहा है :—

"एषा रक्षात्मभावस्य भैषज्यवसनादिभिः।
आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्तिः प्रजायते॥"

इतने मात्र भौतिक साधन से मनुष्य जी तो जरूर सकता है पर वितृष्ण होकर शाक-पात के भरोसे आत्मभाव की वृद्धि नहीं हो सकती फिर भी भौतिक साधनों के अभाव में आध्यात्मिक साधनों से तपस्वी लोग आत्मभाव की वृद्धि करते थे और उन आध्यात्मिक साधनों में जहां एक ओर शील और समाधि भावनाओं का स्थान था वहां दूसरी ओर अनेक प्रकार के मंत्र-तन्त्रों का भी। सो मन्त्र-तन्त्रों का बुद्ध के वचनों में समावेश हुआ और हुआ महायान सूत्रों का सहारा लेकर। बाद में सभी प्रकार की रक्षा और वृद्धि के निमित्त नाना प्रकार के मन्त्र-तन्त्र चल पड़े और उनके सहारे लोग अपने भौतिक सुख की रक्षा और वृद्धि का यत्न करने लगे।

मन्त्रों के साथ किसी न किसी देवता का संबंध जुड़ा रहता है। वे मन्त्र चाहे वैदिक हों और चाहे तान्त्रिक हों—देवता संबंध से अलग नहीं रह सकते। हां, इतना जरूर है कि वैदिक देवताओं का जहां बहुत कुछ भौतिक अस्तित्व है वहां तांत्रिक देवताओं के भौतिक अस्तित्व का हमें पता ही नहीं, हां, उनका औपासनिक महत्त्व है और उनकी सत्ता अध्यात्म में ढूंढ़ी जा सकती है। वैदिक ऋषि प्रातःकाल देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और मारे हर्ष के उछल पड़ते हैं और बोलते हैं: "चित्रं देवानामुदगादनीकं......सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुर्वेद ७।४२)। आश्चर्य! देवताओं की सेना उग आई ......स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा सूर्य उग

आया। बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में वैदिक देवताओं के मर्मस्थल की ओर यों संकेत किया है :–

"भवद्भूतं भविष्यच्च जंगमं स्थावरं च यत्।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेष प्रजापतिः।
कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः॥"

अतीत, अनागत एवं वर्तमान जंगम और स्थावर जगत् एकमात्र सूर्य से ही उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। सत् और असत् सभी की उत्पत्ति इसी प्रजापति से होती है। सब देवताओं को अपनी रश्मियों में सन्निविष्ट कर वह इस त्रिलोकी में अपने को तीन रूप से विभक्त कर स्थित है। यहां तीन ही देवता हैं। (पृथिवी लोक) में अग्नि, मध्यम लोक में इन्द्र या वायु और द्यौः लोक में सूर्य।

तांत्रिक देवताओं का इतनी सरलता से निर्देश नहीं किया जा सकता और न उनका दर्शन ही इतना सुलभ है। निरन्तर ध्यान के द्वारा उनका साक्षात्कार होता है। सच कहें तो वे हमारी मानसिक भावनाओं के ही विकास हैं—मानसिक भावना की तीव्रता के कारण हम भले ही उन्हें मन से बाहर लाकर खड़ा कर दें और अपनी आंखों से देख लें पर मूलतः वे हमारे अध्यात्म में स्थित हैं। उनका भौतिक अस्तित्व तथा रूप और आकार का वर्णन सर्वथा सांकेतिक एवं मनःप्रसूत है।

मन्त्रों के साथ यह देवता लोग नाना नाम-रूप धर कर बौद्ध धर्म में आये और अपनी साधना या उपासना के उन तत्त्वों को भी लाये जो बौद्ध धर्म में पहले न थे। मद्य-मांस और मुद्रा (स्त्री) का साधना के उपकरण के रूप में प्रवेश हुआ तथा साधकों के लिए बुद्ध की "शील विशुद्धि" का महत्त्व ही न रह गया। भक्ष्या-भक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य विचार, साधना के भीतर से चला गया।

पर यह सब हुआ क्यों? इनकी क्या जरूरत पड़ी? इसके उत्तर में इतना तो जरूर ही कहा जा सकता है कि बुद्ध से पहले यह सब प्रवृत्तियां मौजूद थीं और उन्हें बुरा नहीं समझा जाता था। बुद्ध ने शील एवं सदाचार का जो मार्ग दिखाया उसे जनसमाज ने अपनाया तो पर सभी पुरानी बातों को छोड़ कर उसे शुद्ध रूप में अपनाना शायद लोगों के लिए कठिन था सो बाद में धीरे-धीरे दूसरी प्रवृत्तियों ने बुद्ध के धर्म-विनय में घुसना शुरू किया। भिक्षुओं के लिए जिस कठोर सदाचार का प्रतिपादन बुद्ध ने किया था उसे सहज जीवन नहीं कहा जा सकता और जब चारों ओर के वातावरण में उस कठोर तप की विघातक सामग्री मौजूद हो तब तो उसका टिकना संभव हो ही नहीं सकता और हुआ भी वही। महायान के सहारे तांत्रिक प्रवृत्तियों ने प्रवेश कर बौद्धधर्म को वज्रयान एवं सहजयान में बदला।

भिक्षु लोग भीतर से वज्रयानी, ऊपर से महायानी और लोगों में बात करने के लिए हीनयानी बने रहते थे। उनकी स्थिति बाद के हिन्दू तांत्रिकों जैसी थी जो––"अन्तःशाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः" थे।

प्राग्बुद्धकालीन इन तांत्रिक प्रवृत्तियों को बुद्ध धर्म में अपना स्थान बनानें में कम समय नहीं लगा और न इन सबने एक साथ ही उसमें प्रवेश किया। प्रत्युत ज्यों-ज्यों समय बीतता गया बुद्ध की शिक्षामात्र से सन्तुष्ट न होने वाले उनके अनुयायी अपने चारों ओर विद्यमान दूसरी-दूसरी साधना के तत्वों को उसमें बुद्ध के नाम से शामिल करते रहे। हम ऊपर देख चुके हैं कि आटानाटिय रक्षा जैसे सूत्र ईसा से पूर्व ही बौद्धधर्म में आ चुके थे। अनेकों महायान सूक्तों का चीनी भाषा में अनुवाद ईसा की दूसरी शती में ही हो गया था सो उससे पहले कितने ही महायान ग्रंथ प्रचारित हो चुके थे और संगायन या लेखन द्वारा संख्या के नियत न होने से बाद में भी उनका निर्माण होता रहा। और उनमें मन्त्रों एवं धारणियों के समावेश के साथ-साथ छिपे-छिपे मुद्रा और मंडल बनाने के प्रकार, बहुत सी साधनाएँ जिनमें मैथुन का भी स्थान था शामिल होती गयीं। नागार्जुन (१५० ई०) से लेकर हर्ष (६०६––६४७ ई०) तक महायान खूब विकसित हो चुका था और महायान सूक्तों के सहारे तंत्र का उसमें प्रवेश हो चुका था। हर्ष-काल में श्री पर्वत (आन्ध्रदेश) तांत्रिकों का अड्डा समझा जाता था और अनेकों साधक तांत्रिक साधनाओं का अभ्यास गुप्त रूप से करते थे। इन साधनाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ भी इस समय तक जरूर बन चुके थे। हर्ष के बाद ८ वीं से १२ वीं शती के बीच में सिद्धयुग में यह सब गुह्य साधनाएँ खुल्लमखुल्ला होने लगी थीं। ८ वीं शती के आरम्भ में ही होने वाले आचार्य इन्द्रभूति ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानसिद्धि' में अनेक तांत्रिक रहस्यपूर्ण शब्दों की व्याख्या की है। वे शब्द और वाक्य गुह्य-समाज तंत्र से लिए गये हैं। सो बहुत साफ है कि ८ वीं शती से पूर्व ही गुह्य-समाज का साधना क्षेत्र में खूब प्रचार हो चुका था। यहां गुह्यसमाज की साधनाओं के उद्देश्यों का संक्षेप में वर्णन करना बहुत ठीक होगा।

साधना का लक्ष्य काय, वाक् और चित के व्यापारों में एकरूपता ले आना है। जो कुछ चित्त में है वही काय और वाणी का व्यापार हो एवं जो कुछ काय और वाणी का व्यापार हो ठीक वही चित्त का भाव हो। जरा खोलकर कहें तो यों कह सकते हैं––शरीर अर्थात् शरीरस्थ इन्द्रिय और वाणी के सब विक्षेप शांत हों तथा चित्त में भी किसी प्रकार का विक्षेप न हो ऐसी शांतावस्था को पाना ही साधना का उद्देश्य है। इसीलिए कहा है :

"उत्पादयन्तुभवन्तः चित्तं कायाकारेण कायं चित्ताकारेण चित्तं वाक्प्रव्याहारेणेति।।" पृष्ठ ११।।

इसी शांतावस्था को प्राप्त साधक को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेकों कठोर साधनाओं––कायपीड़न का उपयोग भी किया जाता था पर बुद्ध के धर्म में जहां दूसरे को पीड़ा पहुँचाना मना है वहां अपने को पीड़ा

देना भी अनार्य-कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने भी आत्मपीड़ा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। स्पष्ट ही कहा है :—

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः ।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति ॥ (गुह्य समाज पृष्ठ २७)

कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे—कामभोगों की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार उसे वे दबाते होंगे, पर क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा? दबायी हुई वृत्तियां जागृतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से दबते न देख अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए जागरूक एवं दान्तावस्था में थोड़ा अवसर दिया होगा कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनंगवज्र ने कहा है कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हों—

"तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः ।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदा चन ॥" (प्रज्ञोपायविनिश्चय ५।४०)

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भोगलिप्सा मन में उत्पन्न न हो इसके लिए एक मार्ग यह था कि भोगों से दूर रहा जाय। पर भोगों से दूर रहने पर भी अवसर पाते ही सोते-जागते मन में छिपी भोग की वासना बदला लिये बिना न मानती थी, सो बहुत पहले लोगों ने इसे समझ लिया था कि भोग से जान तभी बच सकती है जब उनको स्वीकार भी कर लिया जाय और उनके फन्दे में भी न फंसा जाये। गीता में कहा है, समुद्र में नदियों के पानी की तरह बिना चाहे जिसके पास काम-भोग पहुँचते हैं, उसे शांति मिलती है, काम-भोगों को चाहने वाले को नहीं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठसमुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥

इस तरह योगी जैसे शरीर धारण के लिए अन्न ग्रहण करता है, पर जिह्वालंपट पेटू व्यक्ति की तरह उसके रस में नहीं फंसता, उसी तरह मन की पशुवृत्तियों को शमन करने के लिए योगियों ने कामोपभोग को स्वीकार किया, पर लम्पट पुरुष की भांति भोग स्वीकार के पक्ष में वे नहीं थे। जो भी हो, आरम्भ में भले ही भोगों का स्वीकार बहुत साफ दिल से किया गया हो, पर बाद में भोगों के प्रलोभन से बहुत लोग इसमें घुसे होंगे और उन्हीं के कारण इस साधना के मार्ग में ऊपरी ढोंग बहुत बढ़ गये होंगे तथा साधना के बहाने लोग विलासी जीवन भी बिताने लगे होंगे।

साधना के इस मार्ग में अनेक प्रकार की योग संबंधी कसरतें भी करनी पड़ती थीं और उनमें जरा भी गड़बड़ होने से साधक को विविध व्याधियों का सामना भी क ना पड़ता था। इसलिए साधक के लिए यह बहुत जरूरी था कि वह किसी गुरु की शरण ले जो उसे साधना के बीच मदद पहुँचाये। फलतः इस साधना में गुरु का बड़ा आदर है। यह पूछने पर कि आपका गुरु कौन है? बुद्ध ने उत्तर दिया था कि मैंने सबका पराभव किया है, मैं सर्वविद् हूँ, सब धर्मों से मैं निर्लिप्त हूँ, मैंने सबका त्याग किया है, मेरी तृष्णा का क्षय हो चुका है, मैं मुक्त हूँ, मैंने स्वयं जाना है-- मैं किसे अपना गुरु बताऊं --

"सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बंजहो तण्हखये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥"

पर गुह्य साधना में बिना गुरु के न कोई साधक हो सकता है और न सिद्धि ही। जो सिद्ध हो चुका है उसके भी गुरु है और जो साधक है वह तो सर्वथा गुरु के आश्रय में है ही। इसलिए गुह्य साधना के अनुसार बुद्ध जो सचमुच सिद्ध हैं और बोधिसत्त्व जो साधकावस्था में हैं, गुरु की सदा पूजा करते हैं। गुह्य साधना के इस गुरु-वज्राचार्य के दार्शनिक रूप को आगे चलकर देखेंगे। इस वज्राचार्य के प्रति बुद्ध और बोधिसत्त्व जैसे बरतते थे उसका जिक्र यों है --

"मैत्रेय बोधिसत्त्व ने सब तथागतों को नमस्कार करके पूछा कि तथागत और बोधिसत्त्व वज्राचार्य के प्रति कैसे देखें (व्यवहार करें) ? तथागतों ने कहा....संक्षेप में कहते हैं; लोक धातुओं में जितने बुद्ध और बोधिसत्त्व हैं, वे तीनों समय आकर उस आचार्य की पूजा कर के अपने-अपने लोक को लौट जाते हैं और कहते हैं, आप सब तथागतों के पिता और माता हैं।" (पृष्ठ १३७--१३८)। अतएव बहुत स्पष्ट है कि बुद्ध और बोधिसत्त्वों के बीच इस साधना में आचार्य का स्थान प्रमुख है।

तथागतों का इस साधना के भीतर शक्ति या भार्या के सहित वर्णन है। तथागत ही नहीं, तथागत की भार्याएँ भी वज्राचार्य की पूजा करती हैं। तथागत और उनकी भार्याओं के दार्शनिक रूप को हम आगे चल कर देखेंगे। वज्राचार्य के बहुत कुछ मूर्त रूप वज्रपाणि तथागत हैं। वज्र के संकेत के रहस्य को हम अनुपद ही देखेंगे। वज्रपाणि तथागत से तथागत की शक्तियां अपनी कामना के लिए प्रार्थना करती हैं और वे समाधिस्थ होकर उनकी कामना करते हैं। यहां तथागत की शक्तियों की प्रार्थना को उद्धृत करना उपयुक्त होगा--

त्वं वज्रचित्त भुवनेश्वर सत्त्वधातो
त्रायाहि मां रतिमनोज्ञ महार्थकामैः।
कामाहि मां जनक सत्त्वमहाग्र बन्धो
यदीच्छते जीवितं मञ्जुनाथ॥......... इत्यादि (पृष्ठ १४५)।

इस प्रार्थना को सुन कर "वज्रपाणिस्तथागतः ......सर्व तथागतदयितां समयचक्रेण

कामयन् तूष्णीमभूत्" : इस कामना के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय जितने प्राणी थे वे त्रिवज्रज्ञानी सम्यक् सम्बुद्ध हो गये : "सत्त्वाः सर्वे ते तथागताः अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धास्त्रिवज्रज्ञानिनो ऽभूवन् ।"

इस गुह्य-साधना में काय-वाक्-चित्त की ही साधना है ; तथागत और तथागत की शक्तियों का ही प्रमुख स्थान है। इसलिए यहां उनके स्वरूप पर विचार कर लेना ठीक होगा। बौद्ध-दर्शन में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का विभाजन पंच-स्कंधों में किया गया है। साधना के भीतर इन्हीं पांच स्कन्धों को पंच तथा गत माना गया है। "पंचस्कन्धाः समासेन पंच बुद्धाः प्रकीर्तिताः" (पृष्ठ १३७) । रूपस्कन्ध को वैरोचन, वेदनास्कन्ध को रत्नसंभव, संज्ञास्कन्ध को अमिताभ, संस्कारस्कन्ध को अमोघसिद्धि और विज्ञानस्कन्ध को अक्षोभ्य कहते हैं। इस गुह्य-साधना का दर्शन शून्यवाद है और शून्यवाद के हिसाब से पांचों स्कन्धों की सत्ता निरपेक्ष है ही नहीं। निरपेक्ष-सत्ता के अभाव को ही माध्यमिक शून्यता कहते हैं। यह शून्यता ही सब धर्मों का स्वभाव है--

"गुड़े मधुरताचाग्नेरुष्णत्वं प्रकृतिर्यथा ।
शून्यता सर्वधर्माणां तथा प्रकृतिरिष्यते ॥" (अद्वयवज्र संग्रह पृष्ठ ४२) ।

इसी शून्यता के मूर्तरूप वज्रसत्त्व हैं ; वज्रधर, वज्रपाणि तथागत भी इस शून्यता के ही मूर्तरूप हैं । साधना के आचार्य भी इसी शून्यता के ही प्रतीक हैं। वज्रशब्द शून्यता का ही संकेत है ।

इन पांच तथागतों के पांच 'कुल' हैं। रूपस्कन्ध का मोहकुल है, वेदना-स्कन्ध का ईर्ष्याकुल है, संज्ञास्कन्ध का रागकुल है, संस्कारस्कन्धका वज्र या चिन्ता-मणिकुल है, और विज्ञानस्कन्ध का द्वेष या समयकुल है । इसी तरह पांच शक्तियां भी हैं--मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति वज्ररति और द्वेषरति। इन कुलों और शक्तियों का नामकरण बहुत कुछ स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार हुआ है। रूपस्कन्ध जिसमें भूत(पृथिवी आदि) शामिल हैं, बन्धन या आवरण के स्वभाव वाला है। मोह भी बांधता है--ज्ञान को आवृत करता है, सो रूपस्कन्ध के साथ मोहकुल को जोड़ा है। यही बात दूसरे कुलों के साथ है। शक्तियों का नामकरण भी पांच स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार ही किया गया है । पर शक्तियां केवल पांच स्कन्धों के स्वभावों की ही प्रतीक नहीं हैं, वे पृथिवी, वायु, तेज, और जल धातुओं की भी प्रतीक हैं । मोहरति पृथिवी की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम लोचना है। ईर्ष्यारति वायु की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम तारा है। रागरति तेज की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम पाण्डरवासिनी है। द्वेषरति जल की प्रतीक है ; इसका दूसरा नाम मामकी है। इन तथागतों और शक्तियों का विविध चिन्हों और रंगरूप के साथ वर्णन है। उन सबको यहां नहीं छेड़ा जा सकता पर इन वर्णनों का महत्त्व बहुत है, भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला को इन सब चिह्नों और संकेतों के जाने बिना समझा नहीं जा सकता । यहां इनका एक कोष्ठक दे देना ठीक होगा :

पंच स्कन्ध	पंच तथागत या ध्यानी बुद्ध	रंग	चिन्ह	वर्ण	पंच कुल	पंचतथागत भार्या या शक्तियां	शक्तियों के दूसरे नाम	प्रतीक भूत शक्तियों के तत्त्व	रंग	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुक्ल	शुक्लचक्र	कवर्ग	मोह	मोहरति	लोचना	पृथिवी	शुक्ल	चक्र
वेदना	रत्नसंभव	पीत	रत्न	टवर्ग	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नीलोत्पल
संज्ञा	अमिताभ	रक्त	पद्म	तवर्ग	राग	रागरति	पाण्डरवासिनी	तेज	रक्त	पद्म
संस्कार	अमोघसिद्धि	श्याम	वज्र	पवर्ग	वज्र (चिंतामणि)	वज्ररति				
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	कृष्णवज्र	चवर्ग	द्वेष (समय)	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्णवज्र
शून्यता	वज्रसत्त्व	शुक्ल	वज्रघंटा	अन्तस्थ			प्रज्ञापारमिता			

इन पांच स्कन्धों से ही सौगत सिद्धांत के अनुसार हमारे अध्यातम का विकास हुआ है। अध्यातम से अभिप्राय है, काय, वाक् और चित्त। एवं काय, वाक् और चित्त की साधना में इन स्कन्धों का प्रमुख स्थान होना स्वाभाविक है। स्कन्ध जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है, माध्यमिकों के अनुसार निःस्वभाव हैं, उनकी स्वाभाविक सत्ता नहीं है, अतः वे शून्य हैं। शून्यता का उपयोग जितना दार्शनिक क्षेत्र में है, उससे कहीं अधिक उपयोग साधना के क्षेत्र में है। साधक जिस शान्तावस्था को प्राप्त करना चाहता है उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि वह तृष्णा से मुक्त हो और शून्यता तृष्णा से पीछा छुड़ाने में मदद करती है--जो चीज टिकाऊ है ही नहीं उसके साथ हमारी तृष्णा टिकाऊ हो ही नहीं सकती। पर शून्यता से यह समझना कि वह कोरी अभावात्मक दृष्टि है, कदापि ठीक न होगा। आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि जो लोग नित्यवादी हैं उनको तो शून्यता के द्वारा उस वाद से निकाला जा सकता है, पर जो शून्यतावादी हैं उनका इलाज ही नहीं हो सकता--

"शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तान् असध्यान् बभाषिरे॥" (माध्यमिक कारिका)

इस शून्यवादी दर्शन ने तत्त्ववाद के क्षेत्र में जहां नित्य या स्थिर समझे जाने वाले तत्त्वों को असत् सिद्ध कर दिया, वहां तन्त्र में प्रविष्ट होकर आचार की भीत को भी गिराना शुरू कर दिया। आचार के जो सभी नियम समाज में थे, उन्हें मनगढ़न्त करार देकर निकम्मा सिद्ध कर दिया गया। आचार के नियमों को मनगढ़न्त सिद्ध करना तो सचमुच ही ठीक था, पर निकम्मा सिद्ध करना अच्छी बात न थी। पर जब तक उन्हें निकम्मा न बताया जाता तब तक गुह्य-साधनों में प्रवृत्त होना किसी के लिए सम्भव भी न था। लोकाचार के नियमों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए निकम्मा समझने के ख्याल ने ही चौरासी सिद्धों के युग में साधकों को भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय और गम्यागम्य के झंझट से छुड़ा दिया।

बौद्धों के पंचस्कन्ध आदि पदार्थ जिस तरह ध्यानी बुद्ध आदि के रूप में बदल गये, वैसे ही अन्य देवतागणों को भी जो अबौद्ध धर्मों में जगह बनाये हुए थे, बौद्ध धर्म में घुस आने पर बहुत-कुछ बौद्ध रूप ग्रहण करना पड़ा और तदनुसार अपने रूप में थोड़ा हेर-फेर भी करना पड़ा। यहां हिन्दुओं के प्रमुख देवता ब्रह्मा विष्णु और महेश का जिक्र करना ठीक रहेगा। ऊपर हम त्रिवज्र का जिक्र कर चुके हैं। वज्र का धर्म शून्यता या निःस्वभावता है। काय की निःस्वभावता का नाम ब्रह्मा, वाणी की निःस्वभावता का नाम महेश्वर और चित्त की निःस्वभावता का नाम विष्णु है --

"कायवज्रो भवेत् ब्रह्मा वाग्वज्रस्तु महेश्वरः।
चित्तवज्रधरो राजा सैव विष्णुर्महर्द्धिकः॥" (पृष्ठ १२९)

इन देवगणों ने बाहर से बौद्ध धर्म में प्रवेश कर भले ही ऊपर से बौद्ध रूप ग्रहण कर लिया हो, पर उनकी जो साधनाएं बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हुईं, उनके मूलतत्त्व

ज्यों के त्यों बने रह गये । शिवोपासना जो इन्द्रिय द्वय के प्रतीक रूप में होती है और जिस उपासना में आज अश्लीलता की गन्ध भी नहीं मालूम होती, उसकी साधना के रहस्य का वर्णन करते हुए कहा गया है ––

त्रैधातुकस्थितां सर्वांमंगनां सुरतविह्वलाम् ।
कामयेत् विविधैर्भावैः समयः परमाद्भुतः ।। (पृष्ठ १२९)

बहुत स्पष्ट रूप से इसमें मैथुन की उपादेयता का प्रतिपादन है । वाग्वज् के रूप में महेश्वर बौद्ध धर्म में आते और उनकी साधना का उपकरण पंचम मकार न आता, यह संभव ही कैसे था ?

इस तरह बौद्ध धर्म में मन्त्र, मद्य, मांस, और मैथुन का साधना या योगाभ्यास में सहायता देने के लिए प्रवेश हुआ। मुख्यतया सिद्धियों की लिप्सा ने इस प्रकार के तत्वों को बौद्ध धर्म में घुस आने दिया । जनसाधारण का दिव्य शक्तियों पर विश्वास था ही, और इस प्रकार साधनाओं से दिव्य शक्ति मिलती है। यह धर्माचार्यों ने उन्हें समझा ही दिया था, फलतः ये प्रवृत्तियां जो पहले छिपे-छिपे काम करती थीं, बाद में खुल्लमखुल्ला काम करने लगीं। यद्यपि बुद्ध ने अपने धर्म में सिद्धि के चमत्कारों को विशेष स्थान नहीं दिया है और न उन चमत्कारों के कारण मुक्त होने की बात ही कहीं है, फिर भी त्रिपिटक में चमत्कारों और सिद्धियों का वर्णन खूब है और उनके कारण धर्माचार्यों के सत्कार और पूजा होने की बात का भी उल्लेख है। अतः सिद्धि के लिए लोगों का यत्नशील होना उस काल में स्वाभाविक था और चाहे जिस उपाय से हो, सिद्धि प्राप्त करना धर्माचार्यों का ध्येय था। सौगततंत्र में दो प्रकार की सिद्धियों का प्रतिपादन है। अन्तर्धान इत्यादि सिद्धियां साधारण मानी जाती हैं और बुद्धत्व की प्राप्ति मुख्य सिद्धि। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए महायान ने जिस बोधिचर्या का उपदेश दिया वह बड़ी दुष्कर थी। अनेक जन्मों तक प्राणिहित के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने के बाद बुद्धत्व की प्राप्ति होने की अपेक्षा यदि थोड़े यत्न से बुद्धत्व प्राप्ति हो सके तो उस ओर लोगों का झुकना स्वाभाविक था। तन्त्र ने यह रास्ता खोल दिया और घोषणा की कि साधारण सिद्धियां ही नहीं, बुद्धत्व प्राप्ति भी इसी जन्म में हो सकती है : "गंगा नदी की बालुका के समान अनन्त कल्पों तक परिश्रम करते हुए बोधिसत्व जिस बोधि को नहीं पाते, उसे गुह्य-साधना में रत बोधिसत्व इसी जन्म में पाकर बुद्ध हो जाता है।" (पृष्ठ १४४) सामान्य सिद्धियों और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के उपायों से मन्त्रशास्त्र भरा पड़ा है। उन उपायों और साधनाओं के वर्णन के लिए एक विशाल वाङमय का सृजन हुआ है। यद्यपि वह आज संस्कृत में उपलब्ध नहीं, पर अपने तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित है । तिब्बती साधकों और तिब्बती में अनूदित मन्त्रशास्त्र के अनुवादों से भारतीय योग की हठयोग, त्राटक, स्वरोदय, भूतावेश आदि की प्रक्रियाओं और उनके इतिहास को जाना जा सकता है।

बौद्ध धर्म में बाहर से आयी हुई इन साधनाओं में उन्हें ही सिद्धि प्राप्त हो सकती थी जो सब प्रकार के आचार-विचार से वियुक्त हों। चंडाल, डोम आदि

जो समाज के निचले स्तर में गिने जाते थे, उन लोगों का इस साधना में केवल स्थान ही नहीं, प्रत्युत प्रशस्त स्थान समझा जाता था। सिद्धों में अनेक हीन वर्णों में से ही थे। शौचाशौच संबंधी सभी नियमों को छोड़े बिना किसी की इन साधनाओं में गुंजाइश न थी। इससे हम और कोई निष्कर्ष न भी निकालें तो इतना जरूर कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म की इस तांत्रिक लहर ने समाज के सभी स्तरों को बहुत प्रभावित किया था। छोटे से बड़े सभी इन सिद्धों का आदर करते थे। हीन समझी जाने वाली जातियों में से अनेक सिद्धों ने उस समय बड़ी प्रतिष्ठा पायी होगी। उनके उपदेशों से जनता के निचले स्तर में बहुत चेतना आ गयी होगी और वे इस बात का अनुभव करने लगे होंगे कि केवल श्रोत्रिय लोगों को ही नहीं, उन्हें भी धर्म में अधिकार है।

§§४. ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के चिन्ह

एक ओर बुद्धप्रमुख श्रमणों की परम्परा में जहां एक व्यापक सार्वजनीन धर्म-दर्शन की विचारधारा का विकास हो रहा था, वहां दूसरी ओर ब्राह्मण परंपरा में अनेक प्रतिक्रिया के चिन्ह भी दिखायी देते थे। यह प्रतिक्रिया तुलसीदास के समय तक पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी पर पूर्व युग में इससे लगी निष्ठुरता इस युग में कम हो गयी थी। वस्तुतः श्रमण-ब्राह्मण अथवा संत-ब्राह्मण परम्परा में कुछ मौलिक भेद है। दोनों एक दूसरे की शत्रु भी नहीं है पर दोनों में पूर्ण मैत्री भी नहीं है।

इन श्रमण-ब्राह्मण विचारधाराओं की परम्परा यद्यपि गयु-बुद्ध से भी पूर्व में खोजी जा सकती है; पर बुद्ध-युग में वे धाराएं इतनी प्रत्यक्ष हैं कि हम उनकी ओर से आंखें नहीं मूंदे रह सकते। ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओं में परस्पर क्या भेद है? ब्राह्मण विचारधारा को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो वह प्रधानतया प्रवृत्ति-मार्ग की विचारधारा है। इस प्रवृत्तिमार्ग का स्वरूप श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित धर्म है, जिसके नेता ब्राह्मण ही हैं और हो सकते हैं। ब्राह्मण होना अपने बस की बात नहीं है। सुनते हैं विश्वामित्र अपने बलबूते पर ब्राह्मण हो गये थे। किन्तु यह भी सुना है कि कोई-कोई रगड़ करते-करते खतम भी हो गये, पर ब्राह्मणत्व नसीब नहीं हुआ। महाभारत के अनुशासन पर्व में, २०–२१ वें अध्यायों में एक चांडाल की कथा इस बात पर पूरा प्रकाश डालती है। किसी ब्राह्मण के पुत्र का नाम मतंग था। पिता ने उसे यज्ञकार्य के लिए सामग्री लाने को बाहर भेजा। वह गधजुते रथ पर बैठकर जा रहा था। उसने तेज चलने के लिए गधे के नथुने पर प्रहार किया जिससे घाव हो गया। उसे देख रास्ते में चरती हुई उस गधे की माता ने कहा—'पुत्र! शोक न करो, चांडाल तेरे रथ पर बैठा हुआ है।' गधे की माता की बात सुन मतंग ने उससे पूछा तो उसने कहा कि तू ब्राह्मण का पुत्र नहीं है। शूद्र से ब्राह्मणी में तेरी उत्पत्ति हुई है। यह सुन कर मतंग लौट आया और उसने पिता से सब बात कही। फिर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए वन में तप करने चला गया। उसके तप से प्रसन्न हो, इन्द्र ने

उसे दर्शन दे, वर मांगने को कहा। उसने ब्राह्मणत्व मांगा। इन्द्र ने कहा कि ब्राह्मणत्व इस शरीर से नहीं मिल सकता। उसने पहले से भी उग्र तप करना शुरू किया। इन्द्र फिर आये और यह कहकर चले गये कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसने अब और भी उग्र तप करना शुरू किया और "दुर्वह योग का अभ्यास करते कृश, (मांस के अभाव में) धमनि संतत (=नसों से व्याप्त) हड्डी-चमड़े मात्र शरीरवाला वह धर्मात्मा (भूमि पर) गिरने लगा।१ पर इन्द्र ने उसे जमीन पर गिरने नहीं दिया और बीच ही में उठा लिया तथा फिर वही बात कही कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व प्राप्ति नहीं होगी। इस पर मतंग ने कहा--"मुझ दुःख पीड़ित को क्यों और दुःख दे रहे हो, मुझ मरे को क्यों मार रहे हो। मुझे तो तुम्हारा सोच है कि ब्राह्मणता पाकर भी तुम ब्राह्मण नहीं होना चाह रहे हो। हे इन्द्र! अपने आपमें रमा, राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित परिग्रहहीन, मैं अहिंसा और इन्द्रिय-संयम करके भी कैसे ब्राह्मणता के योग्य नहीं हूँ?'२ इन्द्र ने इतने पर भी ब्राह्मणता का वरदान नहीं दिया। हां, यह वर दिया कि तुम्हारा यश होगा और स्त्रियां तुम्हें पूजेगीं (स्त्रिणां पूज्यो भविष्यसि)। उपसंहार में इतना और कह दिया है कि मरने पर उसे ब्रह्मलोक मिला (संप्राप्तं स्थानमुत्तमं)। इस प्रकार ब्राह्मणों के प्रवृत्ति मार्ग में नेतृत्व करने वाला ब्राह्मण जन्ममूलक ब्राह्मण है। वह इस जन्म में शील-गुण द्वारा, वैराग्य-संयम द्वारा, अहिंसा-मैत्री द्वारा, क्षमा-सहिष्णुता द्वारा नहीं बन सकता। ऐसा जन्मसिद्ध ब्राह्मण ही मानस कवि के अनुसार पूज्य है, चाहे उसमें शीलगुण हों या न हों; शीलगुण होने पर भी दूसरा पूजा के योग्य नहीं है--

पूजिय विप्र शील गुन हीना। शूद्र न गुनगन ज्ञान प्रवीना॥

श्रमणों या संतों की विचारधारा वस्तुतः प्रधानतया निवृत्तिमार्ग की विचार-धारा है। उसका नेतृत्व वे सभी लोग कर सकते हैं, जो शीलगुण के धनी हों, विद्याचरण सम्पन्न हों, उनका जन्म भले ही किसी कुल में क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति के लिए बुद्ध ने कहा है कि वह देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। हिन्दू स्मृतियों में हीनवर्ण के लोगों के लिए शीलगुण अर्जन की सुविधा नहीं है। मनु ने कहा है--"शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट ही देना चाहिए। उसे धर्म का उपदेश भी नहीं देना चाहिए और न उसे व्रत का विधान ही बताना चाहिए।"३ अत्रि ने कहा है--"जप, तप, तीर्थ-यात्रा प्रव्रज्या और मंत्रसाधन इन छह बातों से स्त्री और शूद्र पतित हो जाते हैं।"४ मनु और भी कहते हैं-- 'ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक कर्तव्य बताया है और वह यह कि वह इन द्विजवर्णों

१ सुदुर्वहं वहन्योगं कृशो धमनिसंततः। त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम्।

२ किं मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च मां। त्वां तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषसे॥
एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः। अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रतां॥

३ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतं। न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥

४ जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मंत्रसाधनम्। देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥

की असूया छोड़ कर सेवा करे।"५ हीन वर्णों पर इन सब धर्मशास्त्र की कड़ाइयों के होते हुए भी श्रमणों ने–संतों ने सदा धर्म में समानाधिकार के पक्ष की देशना की। धर्म-समता का प्रचार करने वाले इन संतों को समय-समय पर राजतन्त्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता के कारण मान-अपमान, सत्कार और अत्याचार सभी कुछ नसीब हुआ। अशोकावदान में इन आप बीती घटनाओं की एक झलक है। अशोक सभी भिक्षुओं की वन्दना करता था। यह बात उसके अमात्य यश को अच्छी न लगी। वह बोला––'महाराज! इन शाक्य श्रमणों में सब जाति के लोग हैं, इनके सामने आपका सिर नमाना उचित नहीं।' इसका उत्तर अशोक ने नहीं दिया और कुछ समय बाद बकरे-भेंड़ आदि मेध्य प्राणियों के सिर मंगाकर अमात्यों से उन्हें बेंच लाने को कहा। यश अमात्य को मृत मनुष्य का सिर देकर बेचने भेजा। बकरे आदि प्राणियों के सिरों की कुछ कीमत मिली! लेकिन मनुष्य के सिर का कोई खरीददार न मिला। तब अशोक ने उसे किसी को मुफ्त में दे देने की आज्ञा दी। किन्तु उसे मुफ्त लेने वाला भी कोई न मिला। तब अशोक ने उससे पूछा––'इसे लोग मुफ्त क्यों नहीं लेते?' यश–(क्योंकि इस सिर से लोग घृणा करते हैं।' अशोक––'इसी सिर से लोग घृणा करते हैं या सब मनुष्यों के सिर से घृणा करेंगे?' यश–'महाराज, किसी के भी काटकर लाये सिर से लोग घृणा करेंगे।' अशोक––'क्या मेरे सिर से भी?' इस प्रश्न का उत्तर देने में यश बहुत हिचकिचाया, पर अशोक के अभयदान देने पर उसने कहा––'महाराज के सिर से भी लोग घृणा करेंगे।' अशोक ने इस पर कहा कि यदि मेरा ऐसा सिर भिक्षुओं के आगे झुका तो आपको बुरा क्यों लगा। वहीं अशोकावदान में जोर देकर कहा गया है कि––'लड़की के लेने-देने के समय यदि कोई जाति का विचार करे तो करे, पर धर्म करने के समय जाति का विचार नहीं किया जा सकता। धर्मक्रिया में गुण ही कारण होते हैं–जाति नहीं, गुण जाति विचार कर किसी के पास नहीं जाते।"६ इस प्रकार अशोक जैसे राजा से मान पाकर बाद में पुष्यमित्र जैसे राजाओं से उन्हें अपमान और अत्याचार भी कम नहीं सहने पड़े। वहीं अशोकावदान में कहा है––"पुष्यमित्र भिक्षुओं को मारता और संघारामों को जलाता चला। वह स्यालकोट पहुँचा। और घोषणा की कि जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सौ दीनार दूंगा।"७ राजमान या राजकोप में श्रमणों का मूल्य नहीं कूता जा सकता। उनके मूल्य को जनता पर पड़े उनके प्रभाव से आंका जा सकता है। जनता का वह वर्ग जो शूद्र या अतिशूद्र है, जिसे श्रुति, स्मृति और पुराण प्रतिपादित धर्म में अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, उसमें कोमलता, दया और

---

५. एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

६. आवाहकालेऽथ विवाह काले जातेः परीक्षा न तु धर्म काले।
धर्मक्रियायां हि गुणा निमित्ता गुणाश्च जातिं न विचारयन्ति ॥

७. पुष्यमित्रो यावत् संघारामान् भिक्षूंश्च घातयन् प्रस्थितः। स यावच्छाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितं यो मे श्रमणसिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि ॥

मैत्री आदि सद्गुणों का जो विकास हुआ है, वह श्रमणों या संतों की कृपा से ही हुआ है । लोगों में निर्वैरभावना, क्षमा, एवं सहिष्णुता का विकास करना ही श्रमणता का मुख्य ध्येय है । तथागत ने स्वयं कहा है—"(दूसरे से सताये जाने पर यदि तुम टूटे कांसे के समान चुप रहो तो तुमने निर्वाण पा लिया । तुम्हारे लिए सारंभ (हिंसा या कलह) नहीं रहा ।"८

इस प्रकार की श्रमणता का उपदेश देने वाले बुद्ध प्रमुख संत निर्मुक्त थे, उन पर न तो वेदों का भार था और न ब्राह्मणों की गुलामी। मानस के कवि का विचार संतों की इस निर्मुक्त धारा से प्रभावित हुआ है और इसलिए संतों के प्रति उसका हृदय बड़ा उदार है। पर उसका उपास्य संत उन संतों की परम्परा का संत नहीं है, जिसमें बुद्ध, उनके अनुयायी अनेक आचार्य एवं सिद्धगण तथा कबीर आदि हुए हैं । मानस का संत स्वतन्त्र चेता, श्रमी, यती एवं तपस्वी नहीं है; उसके सिर पर वेद और ब्राह्मणों की पराधीनता का अपार भार है, जिससे उसे सांस लेना मुश्किल हो रहा है । अब हम इस बात का मानस की सहायता से प्रतिपादन करेंगे ।

मानस के आरम्भ में ही संत-वन्दना है । वह वन्दनीय संत सकल गुणों से युक्त हैं, स्वयं दुःख सहकर दूसरे के दुःखों को दूर करने वाला है, वह मंगलमय है, उसकी संगति से बुद्धि बढ़ती है , कीर्ति प्राप्त होती है, सद्गति का भरोसा हो जाता है, ऐश्वर्य भी मिलता है, मनुष्य कल्याण का भागी होता है, दुर्जन सज्जन बन जाते हैं । इस महनीय चरित्र वाले संत की गुणावली का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और विद्वानों की वाणी पार नहीं पाती । फलतः ऐसा कौन है जो ऐसे संत की वन्दना न करे । मानस का कवि इन्हें बड़ी भक्ति के साथ स्मरण करता है, पर यह सब वन्दना अग्र वन्दना नहीं है । अग्र वन्दना का स्थान तो ब्राह्मण के लिए सुरक्षित है और मानस का कवि बड़े उल्लास के साथ कह उठता है—

बन्दौं प्रथम महीसुर चरना ।

संत बेचारे की वन्दना की भी गयी, पर उसके चरणों को बरा दिया गया। कहना ही होगा कि मानस–कर्ता ने संत की सारी महिमा को ब्राह्मणों के चरणों के नीचे लुंठित कर दिया है ।९

---

८ स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा। एस पत्तोऽसि निब्बानं सारंभो ते न विज्जति !
(धम्मपद)

९ बन्दौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना ।।
सुजन समाज सकल गुनखानी । करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ।।
मुद मंगल मय सन्त समाजू । जो जग जंगम तीरथराजू ।।
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहां जेहि पाई ।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ।।
सतसंगति मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ।।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परसि कुधातु सोहाई ।।
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ।।
सो मोसन कहि जात न कैसे । साक बनिक मनि गुन गन जैसे ।।

मानस में संतो के गुणगान का दूसरा प्रसंग अरण्य कांड में आता है। नारद मुनि राम को सीताहरण के अनन्तर पंपा के पास प्रियाविरह में रोते और प्रलाप करते देखते हैं। नारद राम के पास जाते हैं। यहां पर हुए राम-नारद-संवाद में नारद का अंतिम प्रश्न संतों के विषय में होता है।

संतों के लक्षण पूछने पर राम उनसे ब्यौरेवार कहते हैं--संत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छह विकारों से रहित होता है। वह पुण्यात्मा, वीतराग, स्थिरचेता, अपरिग्रही, मन-वचन-कर्म में पवित्र, अपार ज्ञानी, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ और न जाने क्या-क्या होता है। पर इन सब गुणों के होते हुए विप्र में उसका प्रेम होना आवश्यक है। संत का प्रेम तो सबसे होता ही है, फिर विप्र उस प्रेम के भागी न हों सो तो हो नहीं सकता। इसलिए मानस के कवि के ख्याल से संत की विप्र में ही नहीं प्रत्युत् विप्र के चरणों में प्रीति होनी चाहिए। फलतः संत का सारा ऐश्वर्य "बिप्र पद प्रेमा" से वशीभूत असमर्थ ऐश्वर्य है।१०

संतों के उत्कर्ष का तीसरा प्रसंग उत्तर कांड में आता है। राम अपने भाइयों और हनुमान के साथ उपवन देखने गये। उसी समय उचित अवसर जान सनकादि ऋषि राम के दर्शन के लिए पहुँचे। राम ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया और अपना निजी पीतांबर उनके बैठने के लिए बिछाया। फिर हनुमान तथा अन्य राम के भाइयों ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया। राम के साथ चर्चा कर मुनिगण ब्रह्मलोक चले गये। संतों के आदर-सत्कार से भरत बहुत प्रभावित हुए और राम से संतों के लक्षण वर्णन करने की प्रार्थना की। राम ने बताया कि जो लोग अपकारी के प्रति भी उपकार करने वाले, विषयरहित, शीलवान्, गुणवान्, परसुख में सुखी, पर दुःख में दुःखी, समता रखने वाले, निर्वैरी, मदरहित, वीतराग, लोभ, क्रोध, हर्ष और भय से हीन, कारुणिक, दीनदयालु, निष्कपट, भक्तिवान्, मानरहित, सबके सम्मान-

---

१० सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह तें मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धरम गति परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख, रहित बिगत संदेह॥
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
निज गुन स्त्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिन्द बिप्र पद प्रेमा॥
स्त्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रस सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकैं सारद श्रुति तेते॥

कर्ता हैं वे सन्त हैं। पर इतने गुणों का होना पर्याप्त नहीं है। इन सब गुणों में शायद बड़ी कमी रह गयी है, इसलिए मानस का कवि उनमें द्विज-पद-प्रीति आवश्यक समझता है। सबके प्रति कारुणिक, सबके प्रति समान भाव रखने वाला संत क्या द्विजों से द्वेष कर सकता है ? कभी भी नहीं। फिर भी मानस के कवि के ख्याल से द्विजों में ही नहीं, प्रत्युत द्विजों के चरणों में प्रीति जब तक न हो तब तक वह संत ही कैसा ? ११

यहां दो बातें ध्यान में रखने की हैं। पहली यह कि संतों का एक दल एक दीर्घ काल से यहां ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता का विरोध करता रहा है। इन श्रमणों के अनुसार ब्राह्मणत्व की सिद्धि जन्म से नहीं होती प्रत्युत् ब्राह्मणता निष्पाप होने का नाम है (वाहित पापोति ब्राह्मणो)। जो शांत, दान्त, संयत, ब्रह्मचारी और अहिंसक है, वही श्रमण है, वही ब्राह्मण है और वही भिक्षु है। ब्राह्मणता के इस स्वरूप का मान बुद्धप्रमुख श्रमणों ने पूर्वकाल में किया और परवर्ती संत इसको दुहराते रहे। पर मानस के कवि को यह सह्च नहीं है कि गुणों के कारण कोई ऐसा ऊँचा बन जाये कि जन्मजात ब्राह्मणों पर अपनी गुणजात श्रमणता या ब्राह्मणता का सिक्का जमाये। मानस का कवि ऐसा कहने को पाप-युग का प्रभाव बतलाता है जिसके फलस्वरूप शूद्र लोग ब्रह्मज्ञानी को असली ब्राह्मण मानते हैं और स्वयं श्रम एवं तप द्वारा उस ब्राह्मणता तक पहुँच कर जन्मजात ब्राह्मणों से कह बैठते हैं कि हम तुमसे हीन नहीं हैं--

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आंखि देखावहिं डाटि॥

नीची जातियों की बढ़ाबढ़ी मानस के कवि को पसन्द नहीं है, क्योंकि वे श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित हिन्दू धर्म के समर्थक हैं, जिनमें इन लोगों का दबकर रहना ही धर्म माना गया है।

दूसरी बात यह कि श्रुति-स्मति-पुराणों से चिपटे रहने के कारण उनके प्रवर्तकों का स्थान ऊँचा मानना ही पड़ता है। इनके प्रवर्त्तक ब्राह्मण ही रहे हैं। ब्राह्मण लोग श्रमण-परम्परा से बहुत दूर के लोग हैं। भले ही सुदूरवर्ती पूर्व काल

---

११ सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
बिषय अलंपट सील गुनागर। पर दुख दुख सुख सुख देखें पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री॥
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात सन्त सन्तत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय। गुनमंदिर सुख पुंज॥

में होने के कारण तथा ऋषि मुनि आदि के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण उन्हें श्रमण-कल्प समझ लिया गया हो। यही लोग ब्राह्मणों के पुरखा और गोत्र प्रवर्तक रहे हैं। पूर्व युग में इनका अपार प्रभाव रहा है। ये और इनके वंशज यह कभी नहीं चाहते कि उनका प्रभुत्व कम हो। 'मानस' का कवि इसी विचारधारा का समर्थक है। संतों का उत्कर्ष उनके गुणों के कारण होता है तो हो पर उसे ब्राह्मणों और ब्राह्मण-शास्त्रों, श्रुति, स्मृति, पुराणों की छत्रछाया में रहकर होना चाहिए। जो इनके साम्राज्य को तोड़ना चाहें तो उन्हें हाय कलियुगी! चिल्लाने के अतिरिक्त और किया ही क्या जा सकता है --

नहि मान पुरान न बेदहिं जो। हरि सेवक सन्त सही कलि सो॥

हम कबीर आदि संतों को देखते हैं कि वे जिस राम की उपासना करते हैं, वे न तो क्षत्रसंहारी परशुराम हैं और न असुरारि राजाराम और न वे "सालिगराम" (= शालग्राम, विष्णु) ही हैं। प्रत्युत वह आत्माराम हैं।१२ पौराणिक परम्परा के राम-कृष्ण को वे संदेह की दृष्टि से देखते हैं और कहते हैं--बोलो भाई! किसको भगवान् मानें--कृष्ण को, हनुमान् को या शेष को? कृष्ण ने गोबर्धन उठाया, हनुमान् ने द्रोणाचल उठाया, पर शेष ने समूची धरती ही उठा ली है। फिर बड़ा भगवान् शेष हुआ या कृष्ण? राम ने समुद्र में सेतु बांधा, तब लंका गये पर अगस्त्य मुनि उसका आचमन ही कर गये। अब दोनों में कर्ता कौन? सब लोग राम को जपते हैं क्योंकि वह सुखधाम है, पर स्वयं राम ने वसिष्ठ को गुरु करके किसके नाम की दीक्षा ली।१३ श्रमण-परम्परा के हिसाब से अध्यात्मभाव से बाहर--अपनी काया से परे स्थित कोई तत्त्व उपास्य नहीं है। 'योग वासिष्ठ' में राम का कथन है कि "वह बुद्ध ही सुखी है जो परोपकार करने वाली, परदुःख से दुःखित होने वाली और अपनी आत्मशांति से शीतल हुई वाणी से युक्त है। न मैं राम हूँ न मेरी कोई इच्छा है, न मेरी दुनिया के पदार्थों में कोई रुचि है। मैं शांत होकर बैठना चाहता हूँ, जैसे जिन (=बुद्ध) आत्मनिष्ठ हो बैठते हैं।१४

इस आत्माराम में रमण करने वालों और पौराणिक आख्यानों में प्रतिपादित राम को न मानने वालों के प्रति मानस-कवि के विचार बहुत अनुदार हैं। बालकांड के शिव-पार्वती-संवाद में पार्वती प्रश्न करती हैं कि परमार्थवादी जिस राम की उपासना करते हैं वे राम दशरथसुत हैं या और कोई? यदि राजपुत्र हैं तो ब्रह्म कैसे? और

---

१२. प्रथमै सालिगराम हैं दूजे फरसा राम। तीजे राजाराम हैं चौथे आतमराम॥
राम चारि हैं जगत में तीन राम व्यवहार। एक राम तत्त्व सार है ताको करो विचार॥

१३. गोबरधन धारे किसन दौनागिरि हनुमन्त। सेस सृष्टि सिर पर धरी इनमे को भगवन्त॥
सिंधु पाटि लंका गये सीता के भरतार। मुनि अगस्त्य तेहि अंचइगे दो में को करतार॥
तीन लोक रामहिं जपै जानि मुक्ति को धाम। राम बसिष्ठहिं गुरु कियो सुन्यो कौन सो नाम

१४. परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया। बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया गिरा।
नाहं रामो न मे वांछा भावेषु न च मे मनः। शांत आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा

यदि ब्रह्म हैं तो स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली कैसे हुई ? कृपया यह बात समझाइये । शिवजी ने समझाया तो कुछ नहीं। हां, इस प्रकार के लोगों को खरीखोटी जरूर सुनायी कि ऐसा कहने वाले 'अधम नर' हैं, 'पाखंडी' हैं, 'पिशाचग्रस्त' हैं, 'लंपट', 'कपटी' हैं, 'विषयी' हैं, और न जाने क्या-क्या हैं।१५ संत के ऊपर वेदों और पुराणों का बोझ लादने का फल यह हुआ कि शिव को भी खरीखोटी सुनाकर अकुशल-कर्मपथ का भागी होना पड़ा।

मानस में वेदों और पुराणों को मूर्धन्य स्थान देने के कारण उसके संत को ब्राह्मणों, ब्राह्मणशास्त्रों और ब्राह्मण देवताओं की पराधीनता स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि 'मानस' का कवि ब्राह्मण-शास्त्रों की दुहाई देते हुए भी उनको बन्धन का कारण मानता है और देवताओं को स्वार्थी एवं कुटिल समझता है क्योंकि ये दोनों ही प्रवृत्ति-मार्ग के प्राण हैं। और 'मानस' के कवि का झुकाव निवत्ति-मार्ग की ओर अधिक है। वह स्वयं कहता है ––

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ।।
स्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई ।।
जौ तेहि बिघन बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।।
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तँह तँह सुर बैठे करि थाना।।
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।।
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई ।।
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई ।।

ब्राह्मण-शास्त्रों और देवताओं के प्रति यह दृष्टि रख कर पौराणिक आख्यानों में वर्णित राम को उपास्य मानने के कारण ब्राह्मण-शास्त्रों और उनके प्रवर्तक ब्राह्मणों की प्रभुता स्वीकार किये बिना 'मानस' के कवि का काम नहीं चला। और इसी कारण 'मानस'-प्रतिपादित संत महान् होते हुए भी ब्राह्मणों की प्रभुता और ब्राह्मण-शास्त्रों की विभुता से बद्ध एक अत्यन्त असमर्थ प्राणी बनकर रह गया।

---

१५. प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।।
राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।।
जो नृप तनय तौ ब्रह्म किमि नारि बरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।
उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद सन्त सम्मत मोहि भाई।।
एक बात नहिं मोहि सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी।।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि स्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख, जानहिं झूठ न सांच।।
अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी ।।
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु सन्त सभा नहिं देखी।।
कहहिं ते बेद असम्मत बानी। जिन्हकें सूझ लाभू नहिं हानी।।

§§ ५. भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल

भारतीय दर्शनों में तीन वाद बहुत प्रसिद्ध हैं परिणामवाद सबसे पुराना है। आरम्भवाद और विवर्तवाद क्रमशः परिणामवाद के बाद विकसित हुए हैं। कपिल ने ही परिणामवाद की सबसे पहले स्थापना की। प्रकृति के महान् अहंकार, पांच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियां,* पांच महाभूत क्रमिक परिणाम हैं। कपिल, प्रकृति के परिणाम को मानने से परिणामवादी अवश्य कहे जा सकते हैं पर उनका पुरुष अपरिणामी है। पुरुष को प्रकृति से सर्वथा अछूता प्रतिपादन करने में ही उन्होंने परिश्रम किया है। एवं वे प्रधानतः नित्यवादी या शाश्वतवादी ही हैं। प्रकृति का परिणाम स्वीकृत करने में वे प्रकृति को मूल तत्त्व मानकर चले हैं। दूध के परिणाम दही में जैसे दूध से अभिन्नता रहती है, वैसे ही प्रकृति के विकार प्रकृति से अभिन्न रहते हैं। अभिप्राय यह है कि कार्यमात्र कारण से अभिन्न रहता है। एवं कार्य-कारण में अभिन्न होने के कारण कारणावस्था में सत् ही होता है। सो कपिल के परिणामवाद का पर्यवसान एकसत्, नित्य या शाश्वत पदार्थ के मानने में ही होता है। योग भी सांख्य के सब तत्त्वों को मानकर चलता है। ईश्वर उसमें अधिक माना गया है। जो पुरुष या आत्मा का बड़ा भाई है। सांख्य आत्मवादी होते हुए भी अनीश्वरवादी था पर योग के साथ दोनों ही लगे हैं। जैनियों को ईश्वरवाद से परहेज जरूर है पर आत्मवाद (=जीववाद) उनके भी गले का हार है। इस प्रकार सांख्य, योग और जैन तीनों ही एक नित्य या शाश्वत के चक्र में पड़े हैं, उनका परिणामवाद या परिवर्तनवाद उस नित्य-शाश्वत आत्मा के लोक-परलोक संबंध और मोक्ष प्रक्रिया में सहायता के लिए ही है। लोकायत, नित्य या शाश्वत के फेर में नहीं है पर उसकी निगाह बहुत मोटी है। वह परलोक से दूर भागता है और लोक में भी इतना अधिक भूतवादी है कि मन से बढ़कर उसे आंख पर ही विश्वास है। मनन से उसे परहेज है और दार्शनिकता उसके लिए हवा में महल खड़े करने से अधिक कोई और बात नहीं है। परिणाम या परिवर्तनशीलता हो तो हुआ करे, उसे खाने-पीने और मौज उड़ाने से फुरसत ही कहां जो उस पर मनन करे! पर इस मोटी निगाह-वाले में नित्य-शाश्वत के फंदे से निकल भागने की समझ तो है ही जो कपिल, पतंजलि और महावीर में नहीं पायी जाती जो बहुत ज्यादा ज्ञानवान् समझे जाते हैं।

बुद्ध ने आत्मवादियों का रंग-ढंग ठीक-ठीक पहचाना, लोकायत की मोटी निगाह को भी लक्ष्य में रखा। परिणामवाद को सकारणता और परिवर्तन के रूप में उन्होंने उपस्थित किया। यह एक नयी दृष्टि थी। कार्य-कारण से न तो अनन्य है और न अन्य ही। जैसे अंकुर न तो बीज ही है और न बीज से भिन्न ही। कार्य को कारण से अन्य मानने पर कारण का उच्छेद मानना पड़ता है तथा अनन्य या अभिन्न मानने पर कारण का शाश्वतवाद उपस्थित हो जाता है। बुद्ध कार्य को कारण से अन्य नहीं मानते सो लोकायत के उच्छेदवाद से बच जाते हैं। अनन्य भी नहीं

*ग्यारह इन्द्रियां अहंकार की परिणति हैं। पंच महाभूत पंच तन्मात्राओं के परिणाम हैं। यह १६ प्रकृति के चरम परिणाम हैं जिनका फिर परिणाम नहीं होता।

मानते अतः आत्मवादियों के शाश्वतवाद का भी झमेला नहीं रहता। कार्य और कारण के 'न तत् नान्यत्' अथवा 'अशाश्वत और अनुच्छेद' वाद जिस सकारणता और परिवर्तन के नियम पर विकसित हुए हैं वह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। बौद्धों के पिछले सभी दार्शनिकवाद इसी प्रक्रिया के आधार पर हैं।

कौटिल्य से पूर्व सांख्य, योग और लोकायत दर्शन व्यवस्थित हो चुके थे। वैसे ही नागार्जुन (१५० ई०) से पूर्व हीनयानी सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन विकसित और व्यवस्थित हो चुके थे। वैभाषिक दर्शन कनिष्क (७८ ई०) के समय में सम्पन्न विभाषा टीका के सहारे विकसित हुआ है। सौत्रांतिक दर्शन टीका के सहारे नहीं बल्कि सूत्रान्त (=सूत्र=बुद्ध-उपदेश+अन्त=सिद्धांत) या मूल बुद्धवचनों के आधार पर विकसित हुआ। दोनों सर्वास्तिवादी हैं। जो कुछ सत् या वर्तमान है उसे तीन कालों में स्वीकार करते हैं। जैसे कपिल ने पहले पहल गिनकर (=संख्या कर) पचीस तत्त्व गिनाये। ऐसे ही बाद में औरों ने भी अपनी मान्यताओं को गिनकर संख्या कर बताया। यद्यपि संख्या करने के कारण कपिल के दर्शन को जो सांख्य नाम मिला वह संख्या करने पर भी पिछलों को न मिला, पर संख्या तो लोग करते ही रहे। सांख्य ने जैसे पुरुष और प्रकृति के दो विभागों में पचीस तत्त्वों की व्याख्या की वैसे ही सौगततन्त्र में पांच स्कन्धों में बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्वों को समझाया है। बाह्य जगत् को रूपस्कन्ध कहते हैं जिसमें पांच इन्द्रिय, पांच अर्थ, एक अविज्ञप्ति* और चार महाभूत (=पृथ्वी, अप, तेज, वायु) हैं। आभ्यन्तर जगत् चार स्कन्धों में विभक्त है। मन (=इन्द्रिय), धर्म (=मन के विषय) और मनोविज्ञान तथा पांचों इन्द्रिय विज्ञान यह सब विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत हैं। सुख, दुःख या तदभाव रूप जो अनुभव होता है, उसे वेदनास्कन्ध कहते हैं। रूप और विज्ञान का संबंध होने से जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है तथा मन का धर्म से संबंध होने पर जो मनोविज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध में अन्तर्भूत है पर इन छह विज्ञानों के विषयों की मन में जो विशेष रूप से जानकारी (=संज्ञा=सम्यक् ज्ञा=जानकारी) होती है वह संज्ञास्कन्ध है। जैसे आंख से जो वर्ण और संस्थान का सामान्यतया ज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत है पर बाद में 'यह नीला' है, 'यह पीला है' 'यह ह्रस्व है', 'यह दीर्घ है', 'यह पुरुष है', 'यह स्त्री है', इत्यादि जो विशेष रूप से या सम्यक् रूप से ज्ञान होता है वह संज्ञास्कन्ध है। इन चारों स्कन्धों के अतिरिक्त मन पर जो विषय ज्ञान की वासना अपनी छाप छोड़ जाती है वह संस्कार स्कंध है। ये पांचों स्कन्ध संस्कृत हैं––अनित्य हैं––परिवर्तनशील हैं। इन पांचों स्कन्धों के अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नहीं है। ये सब सत् हैं पर परिवर्तनशील होने से क्षणिक हैं। पांचों स्कन्ध

---

* अभिधर्मकोश १।११ में अविज्ञप्ति का लक्षण यों है ––
"विक्षिप्ताचित्तकस्यापि यो ऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय साह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥"
यह अविज्ञप्ति ब्राह्मण दार्शनिकों के 'अदृष्ट' से तुलनीय है।

हैं पर प्रतीत्य समुत्पन्न होने से --सकारणता और परिवर्तन के नियम में प्रतिबद्ध होने से नित्य नहीं हैं। यह बात सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों को मंजूर है। पर बाह्य सत्ता के स्वीकार करने में दोनों की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। वैभाषिक बाह्य-वस्तु का प्रत्यक्ष मानते हैं। आंख से नीले कपड़े या घड़े का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं । 'नील' (घट या पट) प्रमेय है । 'आंख' साधन है । क्योंकि उसी से नील-ज्ञान होता है । 'नील-ज्ञान' प्रमा है । जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय के सदृश ही होता है । जैसे नील (घट या पट) से उत्पन्न ज्ञान नील सदृश या नीलाकारक ही होता है । आंख से जो नील (घट या पट) का ज्ञान होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक नहीं होता प्रत्युत नील-ज्ञान में जो नीलाकारता या नील सारूप्य का अनुभव होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक है। इस प्रकार नीलज्ञान 'प्रमा' में जो 'नीलाकारता या नील सारूप्य' है, वह 'प्रमाण' है जिससे नील (घट या पट) 'प्रमेय' का संवेदन होता है। एवं सौत्रान्तिकों के न्याय से 'नील-सारूप्य' से नील (घट या पट) का अनुमान होता है। सो सौत्रान्तिक बाह्यर्थानुमेयवादी हैं जब कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं। इतने अन्तर को छोड़ कर दोनों सर्वास्तिवादी है। इनकी सर्वास्तिता प्रतीत्य-समुत्पाद से प्रतिबद्ध होने के कारण अनित्य है--क्षणिक है।

सर्वास्तिवादी दर्शन जब देशव्यापी हो रहा था उसी समय नागार्जुन (१५०ई०) उत्पन्न हुए । दक्षिण कोसल में ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। यह केवल दार्शनिक ही नहीं प्रत्युत रसायन-शास्त्री और योगी भी थे। एक पहुँचे हुए सिद्ध के रूप में इनकी प्रसिद्धि केवल यौगिक क्रियाओं के कारण न थी बल्कि रासायनिक सिद्धियों के कारण भी थी। सोया हुआ महायान इनके समय में ही इनके कारण जागा और पीछे अपनी महिमा में सभी बौद्ध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया । दार्शनिक जगत् में इन्होंने एक क्रांति उपस्थित की थी । प्रतीत्य समुत्पाद मानने के कारण सर्वास्तिवादी सत्ता को क्षणिक मानते थे और उसे ही परमार्थ सत् समझते थे। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करते हुए बताया कि प्रतीत्य समुत्पाद अशाश्वत-अनुच्छेदवाद उपस्थित करता है (माध्यमिक कारिका १८।१०) । परिणाम के पीछे -- परिवर्तन की ओट में --नित्यता देखना या अनित्यता देखना दोनों ही किनारे की बातें हैं, एकान्तवाद है। क्योंकि नित्यता देखने का अर्थ है शाश्वतवाद मानना और अनित्यता देखने का अर्थ है उच्छेदवाद मानना। सो प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिप्राय नित्य-एकान्त-वाद या अनित्य-एकान्तवाद मानने में नहीं है प्रत्युत नित्यानित्य-विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है*। हमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह स्वप्न जैसा ही है। जैसे जाग पड़ने पर स्वप्न नहीं रहता वैसे संसार भी मोह निद्रा टूटने पर नहीं रह जाता । इन्द्रजाल की माया दिखलाने वाला जानकार जैसे उस माया को कुछ भी (=सत् या असत्) नहीं समझता वैसे ही तत्त्व संसार को कुछ भी नहीं समझता । वह माया और मायामय पदार्थों को देखता है और जानता है

* माध्यमिकारिका १५-१०, २४।१८

कि ये सचमुच कुछ नहीं हैं। † सत् या असत्, नित्य या अनित्य दृष्टि का होना ही परमार्थ सत्य है। सर्वास्तिवादियों की सत्ता की जो अनित्यता दृष्टि है वह षड्-न्द्रियों से प्रत्यक्ष होने से संवृत्ति सत्य या व्यवहार सत्य है। तैर्थिकों की नित्यता दृष्टि न तो संवृति सत्य ही है और न परमार्थ सत्य ही।

सत्ता को नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से न देखने का अर्थ सत्ता या भाव को परमार्थ दृष्टि से अस्वीकार कर देना है। इस मान्यता से सर्वास्तिवादी दार्शनिक जो सत्ता की अनित्य दृष्टि को परमार्थ सत् समझते थे एक झटका लगा। तैर्थिक सत्ता को नित्य दृष्टि से देखते थे, परिणाम या परिवर्तन के कारण अनुभूत होती हुई अनित्यता की ओर चश्मपोशी करने के अभ्यासी थे। अब उनसे न रहा गया। उपनिषदों से ब्राह्मणों में जो तत्त्व-चिन्तन की धारा बह रही थी उसमें नागार्जुन के शून्यवाद ने बांध का काम दिया जिससे वह थोड़ा मुड़कर बहने लगी। उसके घुमाव-फिराव के कुछ यत्न पहले भी हो चुके थे। लोकायत तो हमेशा ही फूहड़ शब्दों में श्रुति की खबर लिया करते थे। जैन भी श्रुति से परहेज रखना कल्याणकर समझते थे यद्यपि श्रोत्रियों की नित्य दृष्टि के कायल थे। सांख्य, योग जो वेद के विरोधी न होते हुए भी श्रोत्रियों के मार्ग को "अविशुद्धिक्षयातिशय-युक्तः" समझते थे, भले ही नित्य दृष्टि मानते थे। श्रोत्रियों के सामने दो बातें थीं—एक तो श्रुति-प्रामाण्य स्थापित करना। दूसरे, अपने दार्शनिक चिन्तन को इस रूप में उपस्थित करना जिसमें वह नित्य दृष्टि की रक्षा हो। नागार्जुन के बाद के दार्शनिकों को इसीलिए दो बातों में व्यग्र देखा जाता है एक तो अनित्य और अभाव (क्षणिक और शून्य) वादों का खण्डन करना और जैसे भी हो श्रुति-प्रामाण्य का मण्डन करना।

कणाद ने कार्य के कारण का होना आवश्यक माना और बताया कि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक होते हैं।* कारण-कार्य के कणाद-सिद्धांत में कार्य के गुण भले ही कारण से आते हों पर कार्य कारण से अभिन्न नहीं माना जाता था। कपिल जहां कार्य को अपनी कारणावस्था में सत् मानते थे वहां कणाद कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् (=प्रागभाव) मानते हैं। अभिप्राय यह है कि कणाद कार्य-कारण के अभेद से अपनी नित्य-दृष्टि नहीं सिद्ध करना चाहते। इस विषय में उनकी अपनी प्रक्रिया है जो पहले के दार्शनिकों के पास न थी। उन्होंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः पदार्थों में सत्ता का वर्गीकरण किया। इनमें से 'सामान्य' को कणाद ने नित्य-दृष्टि के सिद्ध करने का साधन बनाया। सामान्य क्या है? व्यक्तियों के परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो एक अभेद देखा जाता है वह सामान्य है। राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त सब हैं भिन्न-भिन्न, पर उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द से भी कहा जाता है। सो यह 'मनुष्यत्व' जिसके कारण भिन्न-भिन्न राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त व्यक्तियों को मनुष्य कहा जाता है, 'सामान्य' है। यह नित्य है,

† महायानविंशक १७, १८

* "कारणाभावात् कार्याभावः" "नतु कार्याभावात् कारणाभावः" (वैशेषिक-सूत्र, १।२।१, २) कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः (वैशेषिक सूत्र २।१।२४)

क्योंकि देवदत्तादि के न रहने से भी नष्ट नहीं होता, व्यापक भी है क्योंकि व्यक्ति उससे व्यतिरिक्त नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में 'इदं सत्' (=यह है) की प्रतीति होती है। इस सत् की प्रतीति से 'सता' की सिद्धि होती है।† यह 'सता' जो सामान्य के बल पर सिद्ध हुई नये ढंग से नित्यवाद की स्थापना करती है।

वादरायण ने अपने से पहले की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए श्रुतियों (=उपनिषदों) की दार्शनिक पद्धति को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। अपनी दार्शनिक प्रक्रिया को परिणाम के सहारे स्थापित किया। इनके परिणामवाद में पहले के परिणामवाद से कुछ मौलिक भेद हैं। क्योंकि पुराने परिणामवाद में सता का परिणाम तो माना जाता था पर कपिल जीव (=पुरुष) को, पतंजलि जीव और ईश्वर को, कणाद जीव और ईश्वर के अलावा मन, काल, दिशा, आकाश आदि को परिणाम से अछूता ही रखते थे। वादरायण ने सता और चेतना का अलग-अलग विभाग नहीं किया और बताया कि "ब्रह्म" सत् भी है और चित् भी है। सता और चेतना अविनाभूत हैं। इसी ब्रह्म के परिणाम से नाना रूप सृष्टि देखी जाती है। सम्पूर्ण अर्थ जगत् को अपने कारण ब्रह्म से अनन्य है।

बौद्ध दार्शनिक पांचों स्कन्धों का परिणाम (=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व) मानते थे। और उन्हें सत् और क्षणिक समझते थे। विज्ञानस्कन्ध, जिसके समकक्ष अन्य दार्शनिकों का आत्मा था प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से परिणाम में अछूता नहीं था; इधर वादरायण ने भी ब्रह्म, जो सत् चित् दोनों है, का परिणाम मान लिया तो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद और वादरायण के परिणामवाद में एक प्रकार की सरूपता आ गयी फिर भी भेद बना रहा। वह भेद दो प्रकार का था। प्रथम तो बौद्ध दार्शनिकों ने सत्ता और चेतना (=विज्ञान) को एक नहीं माना जब कि ब्रह्म परिणामवाद में सता और चेतना दो वस्तुएं नहीं हैं। दूसरा भेद था अनित्य-दृष्टि जब कि ब्रह्मवाद नित्यदृष्टि का व्यवस्थापक है। अब इस ब्रह्मवाद की विरोधी दो बातें थीं—एक तो बौद्धों की नित्य-विरोधी दृष्टि, दूसरी चेतन-सत्ता (आत्मा) को परिणाम से अस्पृष्ट रखने की दृष्टि। वादरायण ने दोनों के निराकरण का यत्न किया।

वादरायण के सामने सर्वास्तिवादियों और माध्यमिकों दोनों की नित्य-विरोधी दृष्टियां थीं। उन दृष्टियों को सामने रखते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने पर बल लगाया कि बिना किसी नित्य या स्थिर वस्तु के परिणाम सम्भव नहीं है। कारण और कार्य का पूर्वापरभाव होता है। कारण पहले और कार्य पीछे होता है। कार्य की उत्पत्ति के क्षण में कारण का निरोध हो जाता है। सो कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में जब कारण निरुद्ध ही हो गया तो कार्य के प्रति उसका हेतुभाव नहीं रहा। यदि यह मान लो कि कार्योत्पत्ति के क्षण तक कारण

† 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' (वैशेषिकसूत्र १।२।७)

रहता है तो एक तो कारण और कार्य का पूर्वापर भाव नहीं रहता दूसरे यह दावा कि सब कुछ क्षणिक है खारिज हो जाता है ।* यह तो हुई सर्वास्तिवादियों की बात । बचे माध्यमिक, पर उनकी बात बड़ी पेचीदा थी। नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से उनका संबंध न था । उनके लिए सत्ता की नित्यता और अनित्यता से झगड़ना सपने में देखी गयी लक्ष्मी के लिए बेकार लड़ना था। वादरायण ने उनके प्रति कहा कि सब तरह सोचने पर भी आपकी बात कैसे उपपन्न होती है सो तो मेरी समझ में नहीं आया पर आंख से आपकी बात में विरोध है। सत्ता की उपलब्धि तो हो ही रही है फिर नित्यानित्य दृष्टि से सत्ता को न देखने का अर्थ सत्ता को न मानना ही है जो समझ से बाहर की बात है ।†

वादरायण परिणामवाद मानते थे पर परिणामवाद उनकी समझ में ठीक-ठीक न आया था । ठीक-ठीक परिणामवाद को सबसे पहले नागार्जुन ने ही समझा था। परिणाम का नित्य दृष्टि से कोई मेल नहीं है क्योंकि नित्यता का अर्थ ही कूटस्थता या परिणाम का न होना है। बाद में शंकर को यह बात समझ में आयी । उन्होंने देखा कि परिणामवाद मानने से नित्यता की सिद्धि करना असंभव है अतः उन्होंने परिणामवाद को विवर्तवाद में परिणत किया । परिणति को मिथ्या मानना विवर्तवाद है। जब परिणाम ही मिथ्या हो गया तो 'नित्यता' को किसी से डर न रहा । सत्ता की अनित्य-दृष्टि के साथ भी परिणामवाद की संगति नहीं बैठती क्योंकि 'अनित्य' का अर्थ है सत्ता का विनाश या उच्छेद मानना । जब सत्ता उच्छिन्न ही हो गयी तो परिणाम अब हो तो किसका और कैसे? एवं परिणाम न तो शाश्वतवाद से और न उच्छेदवाद से ही सम्बन्ध रखता है प्रत्युत् वह अशाश्वत-अनुच्छेदवाद है, नित्यानित्य विनिर्मुक्त शून्यवाद है।

कपिल प्रकृति का परिणाम मानते थे। प्रकृति चेतन न थी? बौद्ध सर्वास्तिवादी दार्शनिक परमाणुओं का परिणाम मानते थे; ये परमाणु भी चेतन न थे । कणाद ने सर्वास्तिवादियों से जो परमाणुवाद लिया उसे भी चेतन नहीं माना किन्तु कपिल की प्रकृति की भांति उन्हें नित्य माना जब कि बौद्धों के परमाणु क्षणिक थे। वादरायण का ब्रह्म कोरा सत् न था पर चित् भी था जब कि परमाणु और प्रकृति कोरे सत् थे । अतः वादरायण को चेतन सत्ता का परिणाम सिद्ध करने के लिए जो लोग कोरी सत्ता का परिणाम मानते थे उनके निराकरण की अपेक्षा मालूम हुई । कणाद परमाणुओं के संयोग और वियोग से सर्ग एवं लय का होना मानते थे । संयोग और वियोग दोनों हैं कर्म-सापेक्ष। बिना क्रिया या व्यापार के परमाणुओं का संयोग-वियोग संभव नहीं है। और

---

* "उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२०, २१) ।

† "नाभाव उपलब्धेः । सर्वथानुपपत्तेश्च ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२८, ३२) : शंकर ने विज्ञानावाद के खंडन में पूरे (२।२।२८, ३२) अभावाधिकरण को लगाया है। यद्यपि सूत्रार्थ बिना खींचातानी के शून्यवाद की ओर चला जाता है।

कर्म के लिए कोई दृष्ट कारण है नहीं अतः अदृष्ट को कारण मानना होगा। पर अदृष्ट के अचेतन होने के कारण उसमें सामर्थ्य नहीं है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सके।* कपिल की प्रकृति भी अचेतन है पर उसके प्रति वादरायण अपना यह तर्क न उपस्थित कर सकते थे क्योंकि कपिल के मत से प्रकृति सर्व-बीज अर्थात् सबकी उपादान कारण और प्रवृत्ति स्वभाववाली है। अतः वादरायण ने यह तर्क उपस्थित किया कि प्रवृत्ति अचेतन का धर्म नहीं है। प्रकृति अचेतन है अतः उसमें प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।† और बिना प्रवृत्ति परिणाम हो नहीं सकता।

ऊपर बहुत ही संक्षेप में हमने भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति को देखा है। उसमें एक क्रमबद्ध विकास है। लोकायत सत्ता से चेतना की उत्पत्ति और उसका विनाश मानते थे। कपिल ने सत्ता और चेतना दोनों को अलग-अलग माना जिसमें सत्ता को परिणामी और चेतना को अपरिणामी माना। बौद्ध दार्शनिकों ने भी सत्ता और चेतना को अलग-अलग माना पर परिणामी प्रतिपादित किया। वादरायण ने सत्ता और चेतना को अलग-अलग न मानकर अभिन्न माना और 'ब्रह्म' शब्द द्वारा प्रकाशित किया। पिछले दार्शनिकों की भांति परिणाम इन्होंने भी माना।

वसुबन्धु ने इन सब दार्शनिक गतिविधियों को देखा और एक नयी बात कही। इन्होंने कहा कि सत्ता के न मानने से भी केवल चेतना से भी काम चल सकता है। चेतना के लिए बौद्ध दार्शनिकों का विज्ञान शब्द है और ब्राह्मण दार्श-निकों का आत्मा शब्द है। आत्मा और विज्ञान दोनों एक ही नहीं हैं। आत्मा नित्य या कूटस्थ है और विज्ञान परिवर्तनशील। सो इस वसुबन्धु के विज्ञानवाद में नित्या-त्मावाद की झलक नहीं है। इन्होंने सब कुछ विज्ञान का परिणाम कहा और बताया कि 'सत्ता' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है।

आलय, मन और प्रवृत्ति भेद से विज्ञान तीन प्रकार का है। कपिल की प्रकृति जैसे सर्वबीज (=सम्पूर्ण कार्य जगत् की उपादान) हैं, वादरायण का ब्रह्म जैसे सर्वबीज है वैसे वसुबन्धु का यह विज्ञान सर्वबीज है। सर्वबीज होने के कारण ही इस मूल विज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं। सभी धर्मों का यह कारण रूप से आलय (=स्थान या आश्रय) होने के कारण मूल विज्ञान 'आलय' कहलाता है। आलय विज्ञान के सन्तान से प्रवृत्त हुआ विज्ञानान्तर जो सत्काय-दृष्टि (नित्यदृष्टि, आत्मदृष्टि) मान (=अहंकार), मोह और राग नामक क्लेशों से युक्त होने के कारण बन्ध का कारण है 'मन' कहलाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (=सभी मानसिक भावनाएं) इन छह विषयों की जो प्रतीति है वह 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। जैसे जल में तरंगें (पवनादिजनित क्षोभवश) उत्पन्न होती रहती हैं वैसे ही ये विज्ञान भी आलय विज्ञान में प्रत्ययवश या कारणवश सबके सब एक साथ या पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते रहते हैं।**

---

* उभयथापि न कर्म अतस्तदभावः। (ब्रह्मसूत्र २।२।१२)

† प्रवृत्तेश्च (ब्रह्मसूत्र २।२ २)।

** त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, २, ५, ८, १५

इन विज्ञानों में प्रवृत्ति-विज्ञान के लिए बाह्य सत्ता माननी पड़ती है, किन्तु वसुबन्धु कहते हैं कि इनके लिए भी बाह्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। रूप आदि वस्तुतः हैं, इसलिए उनकी प्रतीति होती है। यह बात मिथ्या है। जैसे तिमिर रोगी को केश, जाल आदि जो सममुच उसके सामने नहीं हैं प्रतीत होते हैं वैसे ही अर्थ-सत्ता न होते हुए भी रूपादि की प्रतीति हुआ करती है। अतएव विज्ञान के अतिरिक्त और कोई बाह्य सत्ता नहीं है।†

पर विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यसत्ता न मानने से कितनी ही आपत्तियां उठ खड़ी होती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त रूपादि बाह्य अर्थ हैं क्योंकि बिना बाह्य अर्थ के चार नियम नहीं होने चाहिएं :--

(१) देश-नियम--जिस स्थान में रूपादि पदार्थ होते हैं वहीं रूपादि विज्ञान भी देखे जाते हैं। जहां नहीं होते वहां रूपादि विज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। सो यह देश या स्थान का नियम तभी बनता है जब रूपादि बाह्य पदार्थ हों। यदि बाह्य-पदार्थ न माने जाएं तो सर्वत्र ही रूपादि की प्रतीति होनी चाहिए। पर होती नहीं। अतः देश का नियम होने से बाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(२) काल-नियम--जिस समय विशेष में रूपादि अर्थ कहीं पर होते हैं उसी समय विशेष में रूपादि विज्ञान उत्पन्न होते हैं। सर्वदा सब समय में उत्पन्न नहीं होते। अतः जान पड़ता है कि रूपादि बाह्यसत्ता के बिना रूपादि विज्ञान उत्पन्न नहीं हैं। इस प्रकार विज्ञानोत्पत्ति के साथ काल का नियम होने से बाह्य-सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(३) संतान-नियम--जहां जिस समय में रूपादि अर्थ होते हैं वहां सभी अविकलेन्द्रियों को उनकी प्रतीति होती। ऐसा नहीं होता कि किसी को हो और किसी को न हो जैसा कि तिमिर रोगी को तो केश-जाल आदि दिखायी पड़ते हैं पर औरों को नहीं। यदि बिना रूपादि बाह्य अर्थ के ही विज्ञान की उत्पत्ति होती तो वह तैमिरिक की असदर्थ-प्रतीति की भांति कुछ को होती और कुछ को न होती, पर रूपादि अर्थ जहां जब होते हैं उनकी सबको ही प्रतीति होती है, अतः विज्ञानोत्पत्ति में सबके साथ संतान-नियम (प्रतीति का सिलसिला) का संबंध होने से बाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(४) कृत्य-क्रिया-नियम--रूपादि बाह्य अर्थों से ही शारीरिक कृत्य हो सकते हैं। स्वप्न में देखे गये अन्न-जल से शरीर की भूख-प्यास नहीं मिट सकती। अतः कोरे विज्ञान मात्र से दुनिया का काम नहीं चल सकता। दुनिया की कृत्य-क्रिया के लिए रूपादि अर्थ अपेक्षित हैं। इस प्रकार भी बाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एवं इन चार नियमों की पड़ताल करने से जान पड़ता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त भी बाह्य रूपादि-अर्थसत्ता है।*

---

† विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, १। * विंशिका २।

वसुबन्धु ने इन आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा कि बाह्य पदार्थ के अभाव में भी देश, काल, संतान और कृत्य-क्रिया के नियम देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए स्वप्न को लीजिये। स्वप्न में बाह्य अर्थ के बिना ही किसी स्थान विशेष में (न कि सर्वत्र) बाग-बगीचे, नदी-तालाब, सुन्दरियां दिखाई पड़ जाती हैं और वहां भी किसी समय दिखाई पड़ जाती हैं, हमेशा नहीं। यह स्वप्नदृश्य कृत्य-क्रिया करने में भी समर्थ होते हैं। रही यह बात कि, बाह्य पदार्थ की प्रतीति सभी अवि-कलेन्द्रियों को होती है पर बाह्यार्थ के बिना तिमिर–रोगी आदि को जो पदार्थ प्रतीति होती है वह सबको नहीं, अतः बाह्यार्थ मिथ्या सिद्ध न हुआ। सो इस युक्ति में भी जान नहीं है। प्रेतों को मल-मूत्र, पूय आदि से परिपूर्ण नदी दिखाई पड़ती है यद्यपि वस्तुतः वह होती नहीं। नारकी जीवों को भी इसी प्रकार भयंकर दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यम-किंकरों के दर्शन भी उन्हे होते हैं और उनसे वे दण्ड भी पाते हैं, यद्यपि ये सब वस्तुतः नहीं होते।* इन आगममूलक दृष्टान्तों को यदि छोड़ दें तो स्वप्न का ही उदाहरण काम दे सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के बिना ही सबको सपने दिखाई पड़ते हैं, और स्वप्न काल में सभी को बाह्य पदार्थ के बिना प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कि किसी को हो और किसी को नहीं। एवं बाह्य पदार्थ के बिना ही देश, काल, संतान, और कृत्य क्रिया की व्यवस्था हो जाती है। अतः इन चार नियमों के लिए बाह्य–सत्ता का मानना जरूरी न रहा।

सर्वास्तिवादी बाह्य–सत्ता पर बहुत जोर देते थे, कणाद और अक्षपाद भी उसके हामी थे। तीनों ही परमाणुओं को मानते थे। बाह्य पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। परमाणुरूपी अवयवों से बना पदार्थ परमाणुओं का समूहमात्र ही नहीं है प्रत्युत उन अवयवों से विलक्षण वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है जो 'अवयवी' कहलाता है। परमाणुओं को संयोग तथा अवयवी को कणाद और अक्षपाद दोनों मानते हैं। परमाणुओं के संयोग से एक विलक्षण अवयवी बन जाता है। यह बात सर्वास्तिवादी नहीं मानते। उनके मत से परमाणु-पुंज ही पदार्थ है। कुछ भी हो इन सब के मत से परमाणु निरवयव हैं। वसुबन्धु को इन दार्शनिकों पर बड़ा तरस आया। इन्होंने कहा कि जिन परमाणुओं के बूते बाह्य-सत्ता सिद्ध करने चले हो पहले एक बार उनको ही संभाल लो। संयोग सावयव का देखा जाता है। परमाणुओं को एक ओर निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका संयोग मानना यह कैसे बन सकता है।† तुम्हारे मत से परमाणु सावयव हो नहीं सकते और निरवयव का संयोग नहीं हो सकता और बिना संयोग हुए अवयवों से अवयवी भी नहीं बना, सो कणाद और अक्षपाद की बाह्य–सत्ता जो अवयवी के सिद्ध होने पर निर्भर थी परास्त हो गयी।

वसुबन्धु ने बाह्य–सत्ता को मिथ्या सिद्ध करने में जो परिश्रम किया उससे परवर्ती दार्शनिकों को बड़ा बल मिला। गौड़पाद ने विज्ञानवाद की सिद्धि के

---

* विंशिका ६, ४। † विंशिका १३ का उत्तरार्ध।

लिए किये गए बाह्य-सत्ता के निराकरण को अद्वैतवाद का बहुत उपकारक समझ कर मान लिया ।† विज्ञानवादियों और अद्वैतवादियों में है भी बहुत समता । नागार्जुन जहां सब कुछ (यहां तक कि चेतना बौद्ध-सम्मत विज्ञान तथा तैर्थिक-सम्मत आत्मा) को भी संवृत्ति-सत्य मानते थे वहां इन दोनों ने उसे परमार्थ सत्य कहना शुरू किया । एक ने उसे विज्ञान शब्द से कहा और दूसरे ने ब्रह्म से । दोनों ने उसके अतिरिक्त बाह्य सत्ता को मिथ्या माना । दोनों ने उसे अनुच्छिन्न या नाश न होने वाला कहा पर एक अन्तर बना रहा । विज्ञान था परिवर्तनशील क्योंकि उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न माना जाता था और ब्रह्म था कूटस्थ यद्यपि वह भी "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) "आत्मकृतेः परिणामात्" (१।४।२६) में वादरायण द्वारा परिणामशील कहा जा चुका था । सो इस ब्रह्म के परिणाम की नये ढंग से व्याख्या करने की जरूरत पड़ी । नागार्जुन ने परिणामवाद (=प्रतीत्यसमुत्पाद) के आधार पर सब कुछ को अशाश्वत और अनुच्छिन्न कह चुके थे । अनुच्छेद अंश से तो अद्वैतवादी सहमत थे पर अशाश्वत अंश उनकी नित्यदृष्टि का कांटा था अतः प्रतीत्यसमुत्पाद या परिणामवाद जो कारण-कार्य का नियम था और नियम को सभी परमार्थ समझते थे मिथ्या करार दे दिया गया,* और वह बेचारा अब संवृतिसत्य मात्र रह गया । परिणाम या प्रतीत्य समुत्पाद माना गया पर विज्ञानवादियों ने उसे परमार्थ सत्य माना अतः उन्हें विज्ञान को क्षणिक या परिवर्तनशील मानना पड़ा । ब्रह्मवादियों ने उसे मिथ्या माना सो उनका 'ब्रह्म' परिवर्तन से अछूता कूटस्थ बना रहा । अस्तु, इस दृष्टि भेद के कारण विज्ञान और ब्रह्म जो एक होने जा रहे थे अलग-अलग बने रहे पर अलग होते हुए भी ब्रह्मवाद पर जो बौद्धदर्शन की अमिट छाप पड़ी वह न मिटाई जा सकती थी ।

विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य-सत्ता का निषेध तो कर दिया पर व्यवहार बिना बाह्य-सत्ता के चल नहीं सकता था। सो उन्होंने विज्ञान के अतिरिक्त यच्च यान्वमात्र व्यवहार को औपचारिक माना। अन्धे को यदि कोई 'सुलोचन' कहे, मूर्ख को 'बृहस्पति' कहे, बाहीक को 'बैल' (गौर्वाहीकः) कहे या गंवार को 'गधा' कहे तो इन प्रयोगों को औपचारिक कहना होगा क्योंकि अन्धे आदि में सुलोचनत्व आदि धर्म नहीं है और जो जहां नहीं, उसका उसमें प्रयोग करना उपचार कहलाता है ।†† आत्मा (=अपनापन, मैं और मेरापन) तथा धर्म (=अपने से पृथक् सब पदार्थ) दोनों की सत्ता औपचारिक है क्योंकि विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त दोनों हैं ही नहीं । विज्ञान के अतिरिक्त "और सब कुछ" मिथ्या है और उसी मिथ्या की व्यवहार सिद्धि के लिए यह अन्य मिथ्यान्तर है "उपचार", जिसे आगे चलकर शंकर ने 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' कहा । विज्ञानैकत्ववाद सिद्ध करने के लिए जिस जगत् को वसुबन्धु ने

---

† गौडपादकारिका ४।२५ ।

* गौड़पादकारिका ३।२५ । †† त्रिंशिका १ पर 'उपचार' शब्द की व्याख्या करते स्थिरमति—"यत्र यच्च नास्ति तत् तत्रोपचर्यते ।

मिथ्या कहा उसने ही वसुबन्धु को अविद्या (=उपचार) में फेंक कर अपनी सिद्धि करवा ही ली।

यहां बौद्ध दर्शन के विकास की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उसका श्रेय उस प्राचीन-सामग्री को है, जो बहुत कुछ हमारे युग में उपलब्ध हुई है। वस्तुतः इसके सहारे बौद्ध धर्म एवं दर्शन तथा उसके साहित्य का नये सिरे से अभिज्ञान हुआ है।

इस नये अभिज्ञान एवं नयी साहित्यिक सम्पत्ति ने हमारी जानकारी में एक नया परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। कुछ ही दिन पहले हम बुद्ध तथा उसके धर्म को बहुत गलत समझ रहे थे, बौद्ध तत्त्वचिंतन की हमें कितनी गलत जानकारी थी; यह हम आज समझ रहे हैं। पर हम तब विवश थे, तब हमारे पास केवल बौद्ध विरोधियों ने जो कुछ बौद्ध धर्म और दर्शन के बारे में बतला रखा था उसके अतिरिक्त हमारे पास जानने को कुछ न था। पर आज हम उतने अकिंचन नहीं हैं। आज बुद्ध के धर्म और दर्शन की वह सामग्री हमारे पास है कि हम उसे ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

शंकर ने बुद्ध को 'अनाप-शनाप बोलने वाला दुनिया का दुश्मन'१ कहा! कुमारिल ने बुद्ध के उपदेश को 'कुत्ते की खाल में पड़े दूध'२ जैसा निकम्मा बताया! जिसके पास जबान है उसे बोलने से कौन रोक सकता है? फिर भी इस प्रकार के फूहड़पने का जवाब किसी भले आदमी के पास हो ही क्या सकता है? आज जिसने बुद्ध के धर्म और विनय की सरसरी तौर पर भी पड़ताल की है वह उन्हें दुनिया का गुमराह करने वाला नहीं कह सकता। बुद्ध का धर्म बिल्कुल स्पष्ट है। उसमें विरोध या असंगतियां नहीं हैं। करुणाकुल बुद्ध ने साफ-साफ कहा है: 'विजय से वैर पैदा होता है, पराजित दुःखी होता है, जो जय और पराजय को छोड़ चुका है उसे ही सुख है, उसे ही शांति है।'३ जानकारों ने इसीलिए कहा है: "तथागत ने थोड़े में केवल 'अहिंसा' के तीन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।"४ क्या सचमुच यह गुमराह करने वाला रास्ता है?

कर्म और उसके फल को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों मानते हैं। कर्मफल का देने वाला ईश्वर है और कर्मफल का भोगनेवाला जीव है। सांख्यों और जैनों को कर्मफल के भोग में ईश्वर का हस्तक्षेप मंजूर नहीं है। वेदान्ती भी इस प्रकार के हुकूमत करने वाले ईश्वर को नहीं मानते। हां, अक्षपाद और कणाद को इस प्रकार के ईश्वर की जरूरत है। ईश्वर की बात यहां छोड़ देनी

---

१. 'सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु।" (ब्रह्मसूत्र २।२।३२ पद)।

२. सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि।' (तन्त्रवार्तिक)।

३. 'जयं वेरं पसवति दुःखं सेति पराजितो उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं"॥ धम्मपद १५।५

४. 'धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।' चतुःशतक।

है, केवल उसके गुलाम 'जीव' की कहानी पर ध्यान देना है। बौद्धों को छोड़ कर सभी जीव को एक टिकाऊ जीव समझते हैं। दार्शनिक भाषा में कहेंगे कि जीव नित्य है। जीव शब्द भी यहां छोड़ देना चाहता हूँ। इसके लिए 'आत्मा' शब्द को लेना है। आत्मा का अर्थ कुछ विस्तृत है, जो लोग ईश्वर को मानते हैं उनका ईश्वर भी इसमें शामिल हो जाता है। वेदान्ती आदि दार्शनिक जो आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की उससे अलग सत्ता नहीं मानते उनका भी इसी शब्द से काम चल जाता है। और बौद्ध लोग तो आत्मा को मानते ही नहीं वे भी इसी में 'न' जोड़ कर काम चला लेते हैं।

कर्म है और उसका फल है पर उसका आश्रय कोई टिकाऊ या स्थिर किं वा नित्य आत्मा नहीं है, यह बुद्ध की मान्यता है। आत्मा क्या, सत्ता मात्र में जो सत् या स्थिरता का भान होता है, वह असल में नहीं है। बुद्ध ने इसे इस प्रकार समझाया है : बीज होने पर अंकुर होता है पर बीज ही अंकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अंकुर नहीं है। अतः बीज शाश्वत स्थिर टिकाऊ या नित्य नहीं है क्योंकि उसका अंकुर रूपमें परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता क्योंकि अंकुर बीज ही का तो रूपान्तर है।[१] यह एक उदाहरण है जिसके द्वारा सिद्धांत का स्पष्टीकरण है। बुद्ध का अपना मत है कि न तो कुछ भी अशाश्वत है और न कुछ भी उच्छिन्न होता है। प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य कारण से न तो अन्य या भिन्न ही होता है और न अनन्य ही, कार्य कारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पड़ता, यदि कार्य अनन्य अर्थात् कारण-रूप ही होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पड़ता। पर दोनों बातें नहीं हैं, इसलिए न कोई शाश्वत है और न किसी का उच्छेद होता है। 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' बुद्ध का दार्शनिक सिद्धांत है। यह सकारणता और परिवर्तन के नियम के आधार पर विकसित हुआ है। इस नियम को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। जिसका अक्षरार्थ है : समुत्पादः=उत्पत्ति, कार्यमात्र का होना ; प्रतीत्य (एव भवति)=कारण के (प्राप्त) होने पर ही होता है। बुद्ध के बाद जितने भी बौद्ध दार्शनिक हुए वे "प्रतीत्यसमुत्पाद' तथा 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के सहारे ही अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करते रहे हैं। सब कुछ ही जब अशाश्वत और अनुच्छिन्न है तब 'आत्मा' भी इसका अपवाद नहीं है। इस बेटिकाऊ, पर न नष्ट होने वाले, आत्मा को बौद्ध चित्त या विज्ञान कहते हैं।

जिस अशाश्वतानुच्छेदवाद की पद-पद पर बौद्ध दर्शनों में चर्चा है उसको पूर्वपक्ष के रूप में कहीं भी ब्राह्मण और जैन दर्शनों ने छुआ तक नहीं। यह बात बड़े आश्चर्य में डालने वाली है। जहां भी बौद्ध दर्शन की आलोचना की गई है वहां सर्वत्र उसे उच्छेदवादी दिखलाया है—अभाववादी बताया है। शंकरा-

---

१. बीजस्य सतो यथाकुंरो न च यो बीजु स चैव अंकुरो।
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता।—ललितविस्तर।

चार्य साफ ही सौगत दर्शन का अभिप्राय समझाते कहते हैं 'सौगत दर्शन ठीक नहीं क्योंकि वे किसी कारण को स्थिर नहीं मानते, जिसका निष्कर्ष है अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानना,'* सौगत दर्शन को शंकर 'वैनाशिक' कहते हैं यद्यपि सौगतों ने जहां किसी वस्तु को शाश्वत नहीं माना है वहां उसका विनाश या उच्छेद मानने से भी इनकार कर दिया है। यह एक नमूना है और इस प्रकार के अनेकों नमूने हैं जिनमें इस प्रकार गलत रूप में बौद्ध दर्शन को उपस्थित किया गया है । खैर, विरोध करने में अब तक बुद्ध को उच्छेदवादी या वैनाशिक बनाया गया सो बनाया गया पर अब उन्हें उच्छेदवादी या वैनाशिक नहीं कहा जा सकता।

आज हम कह रहे हैं कि बुद्ध वैनाशिक या उच्छेदवादी नहीं थे पर क्या इस पर वे लोग विश्वास करेंगे या मान लेगें जो बुद्धि पर पोथी धर कर तर्क करने बैठते हैं। तर्क में पोथी-पत्रा काम नहीं दिया करता । यदि देता तो अपने तत्त्व या मतलब के बचाव के लिए जल्प और वितण्डा की जरूरत ही क्या थी ?† जो लोग छल-बल से, जल्प और वितण्डा से दूसरों को चुप कर देना ही तत्त्व-रक्षा का साधन समझते हैं, उनसे इस बात की आशा करना भूल है कि वे दूसरे के मत को सही-सही देख सकेंगें । उनकी यही कौन सी-कम भलमनसाहत है जो जल्प और वितण्डा को तत्त्वरक्षा का साधन कहते हुए मुंह पर थप्पड़ लगा देने को तत्त्वरक्षा का साधन नहीं कहा । इस छली मनोवृति के कारण बौद्ध जिस रूप में अपने दार्शनिक सिद्धांत मानते हैं उनको उसी रूप में उपस्थित कर आलोचना नहीं की गयी, फलतः उन आलोचनाओं के द्वारा हम जिस रूप में बौद्ध दर्शन की झलक पाते हैं वह उसके स्वरूप से सर्वथा उलटी है ।

हम जिस प्रतीत्यसमुत्पाद और उसके आधार पर विकसित अशाश्वत-अनुच्छेदवाद का जिक्र कर चुके हैं उसके आधार पर ही पिछली बौद्ध दार्शनिक प्रक्रिया ठहरी हुई है । विभाषा और उसके मानने वाले वैभाषिक सम्प्रदाय का ऊपर जिक्र हुआ है । इन्होंने बुद्ध वचन के अनुसार सता को प्रतीत्यसमुत्पन्न तथा अशाश्वत और अनुच्छिन्न कहा । सत्ता का वर्गीकरण पांच स्कन्धों में है । बौद्ध मान्यता के अनुसार कोई 'एक' वस्तु नहीं है प्रत्युत् जहां 'एक' का भान होता है वहां 'अनेकों' का समूह' हुआ करता है । वृक्ष 'एक' पदार्थ है पर वह है क्या ? जड़, तना, शाखा और पत्र आदि का समूह ही तो है । हरएक पदार्थ का यही हाल है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है। स्कन्ध का अर्थ राशि या ढेर है । प्रत्येक वस्तु अनेकों का एक ढेर है उसमें जो 'एक' की प्रतीति है वह व्यवहारतः ठीक हो सकती है पर परमार्थतः है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवों का स्कन्ध या ढेर है । नैयायिक पदार्थ को अव-

---

* अनुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छताम-भावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते'। ब्रह्मसूत्र २।२।२६ पर शारीरकभाष्य ।

† तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कंटक-शाखावरणवत् । न्यायसूत्र ४।२।५०

यवों का ढेर न मान कर अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी की कल्पना करते हैं। अवयवी को मानकर भी अक्षपाद ने मान लिया है कि 'अवयवी का अभिमान दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह का कारण है,।' (न्यायसूत्र ४।२।३)। यद्यपि अवयवों से व्यतिरिक्त अवयवी की सत्ता असिद्ध है। 'एक' की प्रतीति से अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि 'एक' अपने आप में ही सिद्ध नहीं है। 'एकत्व' को सिद्ध मान कर हिन्दू तार्किकों ने 'अवयवी' की सिद्धि की है। अवयवों के स्कन्ध या ढेर को ही वैभाषिक पदार्थ मानते हैं। अवयव के लिए 'परमाणु' शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु है। इस प्रकार परमाणु-पुंज ही पदार्थ है यह निष्कर्ष निकला। हिन्दू तार्किक भी परमाणु मानते हैं पर उनके यहां परमाणु-पुंज पदार्थ नहीं है प्रत्युत् उनसे व्यतिरिक्त एक 'अवयवी' पदार्थ है। परमाणु, पथिवी, जल, तेज, और वायु के होते हैं। यह चार भूत कहलाते हैं। इन चार भूतों का कारण 'अविज्ञप्ति' है। अविज्ञप्ति क्या है सो तो ठीक-ठीक पता नहीं। सचमुच ही वह अ-विज्ञप्ति न जानी गयी चीज ही है। खैर, ये चार भूत, अविज्ञप्ति, पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पांच, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषय एवं कुल पन्द्रह को रूप स्कन्ध कहते हैं। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से गन्ध का, जिह्वा से रस का, शरीर (=काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (=मानसिक भावों) का जो ज्ञान सामान्यतया होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताएं भी झलकें तो वह 'संज्ञास्कन्ध' होगा। जैसे आंख से कोई स्त्री दिखाई पड़ी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रंग, रूप, कद आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह संज्ञास्कन्ध होगा क्योंकि यह सं=सम्यक् या विशेष रूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख-दुःख की अनुभूति का नाम वेदना-स्कन्ध है। इन चारों स्कन्धों से जो कुछ बचा है वह संस्कार स्कन्ध है। इन पांचों स्कन्धों की सता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से अशाश्वत एवं अनुच्छिन्न है। यह बात वैभाषिक तो मानते ही हैं पर सौत्रान्तिक भी इससे सहमत हैं।

इस दार्शनिक धारा में, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, नागार्जुन ने एक और नूतन बात पैदा कर दी। उन्होंने कहा कि पांचों स्कन्धों की सता निरपेक्ष नहीं है। किन्तु उनकी सत्ता सापेक्ष है। उन्होंने साफ-साफ कहा है : कर्म कर्म करने वाले के बिना नहीं हो सकता। जब कर्म होता है तब कर्म का करने वाला भी होता है। सो कर्म और उसको करने वाला अर्थातु कारक अपनी-अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की अपेक्षा रखते हैं। यह एक उदाहरण है। वस्तुतः प्रत्येक सता का यही हाल है। सब की सिद्धि सापेक्ष ही है।* सता की सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसी का नाम 'शून्यवाद' है। शून्यवाद निरपेक्ष सता की सिद्धि से इन्कार करता है। पता नहीं इसमें कौन सी असंगति है जिसे देख कर शंकर ने इसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' (ब्रह्मसूत्र २।२।३१) कहा है। इस शून्यवाद का विकास

* माध्यमिक कारिका ८।१२,१३।

भी प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही अवलम्बित है । प्रतीत्यसमुत्पाद ने किस प्रकार अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया यह ऊपर कहा गया है । अशाश्वत और अनुच्छिन्न या परिवर्तनशील सत्ता में जो सत्ता की प्रतीति हो रही है वह भी निरपेक्ष नहीं है क्योंकि कार्य की सता कारण की सत्ता की अपेक्षा रखती है। माध्यमिक शून्यवाद के प्रतिपादक नागार्जुन की मूल माध्यमिका कारिकाओं पर टीका करते समय इसीलिए चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही किया है: 'हेतुप्रत्यय-सापेक्षो भावानामुत्पादः ।' (पृ० ५) सो प्रतीत्यसमुत्पाद कोरा सकारणता और परिवर्तन का नियम नहीं है प्रत्युत् वह सत्ता की सिद्धि भी सापेक्ष मान कर निरपेक्ष सता का खण्डन करता है ।

यह खंडन प्रणाली बड़ी रोचक है । काम बिना किये नहीं होता। कल्पना कीजिए, मैं रोटी बनाना चाहता हूँ । रोटी बनाना काम है जो मुझे करना है सो मैं रोटी का बनाने वाला या कर्ता या कारक हुआ। रोटी जिसे बनाना है वह मेरा काम या कर्म हुआ । पर इस काम के लिए मुझे कुछ करना-धरना भी पड़ेगा। खाली बैठे रहने से तो काम न चलेगा सो यह करना धरना या क्रिया भी इसके लिए चाहिएं । पर इतने से भी काम नहीं चल सकता । रोटी के लिए आटा चाहिए, पकाने के लिए चूल्हा आदि चाहिएं । इन्हें कारण शब्द से कह सकते हैं । रोटी का कारण आटा है और रोटी उसका कार्य है पर यदि मैं हाथों से काम न लूं तो यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता सो हाथ भी इसके असाधारण कारण हुए। इन कर्ता, कर्म, हेतु या कारण तथा कार्य की सिद्धि पर नागार्जुन के शब्दों में विवेचना करनी है।

यदि कर्म को स्वभावतः (निरपेक्षतः) सत् मानें तो कर्म को कर्ता की जरूरत न रहेगी और कर्ता भी निकम्मा हो जायगा क्योंकि उसके करने योग्य कर्म तो स्वभाव सत् है ही फिर उसके करने का सवाल ही क्या ? यदि यह मानें कि कर्म स्वभाव से असत् है और वह असत् कर्ता के द्वारा किया जाता है तब बड़ी आफत होगी । कर्म बिना हेतु के हो जायगा, और कर्ता को भी निर्हेतुक ही कहना पड़ेगा । जब हेतु ही नहीं रहा तब कार्य-कारण का सवाल ही क्या ? कार्य और कारण की व्यवस्था ही जब नहीं रही तब किसी कर्म या काम के करने की बात ही नहीं उठती और कर्ता-कारण कोई चीज ही नहीं रहते। इस प्रकार जब कुछ करने-धरने आदि की बात ही नहीं रही तब धर्म और अधर्म किसी की चर्चा बेकार है। (माध्यमिक कारिका ८।२-५) । अतः स्वभावतः या निरपेक्षतः न तो सत्ता है और न अभाव ही है प्रत्युत काम के लिए जैसे कर्ता या करने वाले की अपेक्षा है वैसे ही कर्ता को काम या कर्म की अपेक्षा है । दोनों को बिना सापेक्ष माने सिद्धि नहीं हो सकती । सत्ता को सापेक्ष सिद्ध मानने पर भी व्यवहार में विरोध नहीं आता क्योंकि तत्त्वचिन्तक भी व्यवहार के समय लोक-प्रमाण पर ही चलता है। लोकप्रमाणक सत्य को संवृति-सत्य कहते हैं । संवृति-सत्य के अनुरोध से सत्ता को निरपेक्ष कहना दोष नहीं पर परमार्थ-सत्य के अनुरोध से उसकी सिद्धि सापेक्ष है । यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का नियम ही नागार्जुन के मत से

प्रतीत्यसमुत्पाद है । प्रतीत्यसमुत्पाद को ही उन्होंने शून्यवाद कहा है; 'यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे' (माध्यमिक कारिका) । शून्यवाद के इतने स्पष्ट रहने पर भी यदि लोग ऊल-जुलूल ही उसे समझते रहें तो इसमें शून्यवाद के प्रवर्तक का दोष ही क्या ? 'न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेन मन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' ।

जैसा कि पहले ही बताया गया है नागार्जुन के अनन्तर असंग और वसुबन्धु फिर दो क्रांतिकारी दार्शनिक हुए। इन्होंने चित्त या विज्ञान को तो निरपेक्ष सिद्ध माना पर बाह्यार्थ को विज्ञानसापेक्ष कहा। फलतः बाह्य अर्थ भी विज्ञान के परिणाम या परिवर्तन का एक रूप बताया गया। जो बाह्य अर्थ को निरपेक्ष मानते थे उनका इन्होंने खंडन किया । सौत्रान्तिक और वैभाषिक परमाणु पुंज को पदार्थ मानते थे । कणाद और अक्षपाद परमाणुओं से अतिरिक्त अवयवी की कल्पना करते थे । वसुबन्धु के बाह्यार्थ निराकरण को गौड़पाद ने उसी रूप में मान लिया । यह मानना जरूरी भी था क्योंकि वेदान्त में भी बाह्य सत्ता ब्रह्म-सापेक्ष ही है, निरपेक्ष नहीं ।

यहां हमने बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद की पड़ताल की है । बुद्ध ने किसी को न तो शाश्वत माना और न किसी का उच्छेद या विनाश ही माना । सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों ने भी इसी बात को माना और विवेचनापूर्वक पांचों स्कन्धों की निरपेक्ष सता मानी । नागार्जुन ने इनकी सत्ता को सापेक्ष कहा। वसुबन्धु ने विज्ञान की सता को निरपेक्ष और बाह्य सत्ता को उसी प्रकार विज्ञान सापेक्ष कहा जैसा कि वेदान्तियों ने बाद में बाह्य सता को ब्रह्म-सापेक्ष माना। पर किसी ने न तो किसी को शाश्वत माना न किसी का उच्छेद। इतना स्पष्ट होते हुए भी विरोधी आलोचकों ने सौगत दर्शन को वैनाशिक या उच्छेदवादी कहा है जो नितान्त भ्रम है। कदाचित् सौगत दर्शन को ठीक-ठीक जानकारी पाने का उन लोगों ने प्रयास ही नहीं किया।

बौद्ध दर्शन उच्छेद-विनाश या अभाववाद को मानता है, यही बात उसके आलोचकों ने बता रखी थी और इसी को मान कर उन्होंने बड़े-बड़े दोष दिखाये थे। पर हम देखते है, उन्होंने बौद्ध दर्शन को जिस रूप में उपस्थित किया वह उसका असली रूप नहीं है फिर भला उस पर थोपे दोष यथार्थ हो ही कैसे सकते हैं। बुद्ध का अवतार असुरों की प्रवंचना के लिए हुआ और उनका दर्शन आत्मा का उच्छेद मानता है । यह दो व्यापक बातें जिनके उल्लेख से ब्राह्मण ग्रन्थ भरे हैं, आज गलत सिद्ध हो रहे हैं। आज बुद्ध का धर्म और दर्शन हमारे सामने है । बुद्ध ने आचरण के क्षेत्र में जैसे काय-पीड़न तथा भोग-विलास के जीवन को मना कर मध्यम मार्ग से चलने का उपदेश दिया वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रों में शाश्वत और उच्छेद दोनों मान्यताओं से बच कर अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया। बौद्ध दार्शनिकों ने परिवर्तन के जिस वैज्ञानिक सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या

के व्याज से अमूल्य ज्ञान निधि दी है, वह और उसके द्रष्टा बुद्ध दोनों नमस्य हैं :—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ॥

—नागार्जुन

बोधिचर्यावतार

मूल श्लोक और अनवाद

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बोधिचर्यावतार

प्रथम परिच्छेद

बोधिचित्तानुशंसा

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् प्रणिपत्यादरतोऽखिलांश्च वंद्यान् ।
सुगतात्मजसंवरावतारं कथयिष्यामि यथागमं समासात् ॥१॥

सुगतों को, उनके पुत्रों-बोधिसत्त्वों के साथ, उनके (कायों में उत्कृष्टतम) काय धर्म के साथ, तथा वंदनार्ह सबको, सादर प्रणाम कर सुगतों के आत्मा (न कि शरीर) से उत्पन्न बोधिसत्त्वों के संवरावतार–आचरण-मार्ग का संक्षेप से आगमानुसार वर्णन करूंगा ।

नहि किंचिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रंथनकौशलं ममास्ति ।
अतएव न मे परार्थचिन्ता स्वमनो वासयितुं कृतं मयेदं ॥२॥

यहां न तो कोई अपूर्व बात कहने के लिये है और न मेरी रचना में ही निपुणता है। इसलिए मैं सोचूं भी तो कैसे सोचूं कि इसमें दूसरों के लिये कुछ है। हां, मेरे मन को वासित(=भावित) करने के लिये यह (अवश्य) है।

मम तावदनेन याति वृद्धिं कुशलं भावयितुं प्रसादवेगः ।
अथ मत्समधातुरेव पश्येदपरो ऽप्येनमथो ऽपि सार्थकोऽयं ॥३॥

पुण्यभावना के निमित्त मेरी श्रद्धा के प्रवाह में तो इससे बाढ़ ही आ जाती है। फिर दूसरे किसी समानधातुक (समानशीलव्यसन) की दृष्टि भी इस पर पड़ सकती है। जो भी हो यह (कृति) व्यर्थ नहीं है।

क्षणसंपदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥४॥

पुरुषार्थों की साधिका, अत्यन्त दुर्लभ यह क्षणसंपत्ति* मिली है। यदि इसमें हितचिन्तन नहीं किया गया तो इसका फिर मिलना कहां?

---

*क्षणसंपत्ति=अष्ट-अक्षण-निवृत्ति। आठ अक्षण ये हैं––१–नरक योनि, २–प्रेतयोनि, ३–तिर्यग्योनि, ४–दीर्घायुष देवयोनि, ५–मिथ्यादृष्टि, ६–बुद्धानुत्पाद, ७–म्लेच्छता, ८–मूकता। प्रज्ञा करमति ने यहां एक श्लोक उद्धृत किया है। वह यों है–

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारौ मूकताष्टाविहाक्षणाः ॥

रात्रौ यथा मेघघनांधकारे विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशं।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचित् लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥५॥

रात के बादलों के घने अंधेरे में जैसे बिजली क्षणभर अपनी चमक दिखा जाती है, वैसे ही बुद्धानुभाव से लोगों की बुद्धि कभी क्षणभर के लिये पुण्य की ओर होती है।

तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं बलं तु पापस्य महत्सुघोरं।
तज्जीयते ऽन्येन शुभेन केन संबोधिचित्तं यदि नाम न स्यात् ॥६॥

इसलिये पुण्य सदैव दुर्बल रहता है पर पाप का बल सदैव महाभीषण बना रहता है। उस (पाप) को कोई दूसरा पुण्य न जीत पाता, यदि बोधिचित्त नामक (पुण्य) न होता।

कल्पाननल्पान् प्रविचिंतयद्‌भिर्दृष्टं मुनीन्द्रैर्हितमेतदेव।
यतः सुखेनैव सुखं प्रवृद्धमुत्प्लावयत्यप्रमिताञ्जनौघान् ॥७॥

मुनीन्द्रों ने बहुत कल्पों तक चिंतन करते-करते एक मात्र इस (बोधिचित्त) को ही कल्याण माना है। इससे सहज ही समृद्ध हुआ सुख अपार जन-राशि को उत्प्लावित कर देता है।

भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपिसत्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तं ॥८॥

संसार के शत-शत दुःखों के तरने, प्राणिपीड़ा के हरने, तथा अनेक शत-शत सुख भोगने की कामना करने वालों को कभी भी बोधिचित्त का परित्याग न करना चाहिये।

भवचारकबंधनो वराकः सुगतानां सुत उच्यते क्षणेन।
स नरामरलोकवंदनीयो भवति स्मोदित एव बोधिचित्ते ॥९॥

संसार के कारागार में बंधा हुआ बेचारा (मनुष्य) बोधिचित्त के उत्पन्न होने के क्षण में ही सुगतसुत--बोधिसत्त्व कहलाने लगता है और देवताओं तथा मनुष्यों के लिये पूजनीय हो जाता है।

अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घां।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञं ॥१०॥

बोधिचित्त नामक अत्यन्त वेधनीय रसजात (=रसायन) को दृढ़ता से ग्रहण करो, जो इस अपवित्र (शरीर रूपी) प्रतिमा को लेकर बुद्धरत्न रूपी अमूल्य प्रतिमा बना देता है।

सुपरीक्षितमप्रमेयधीभिर्बहुमूल्यं जगदेकसार्थवाहैः।
गतिपत्तनविप्रवासशीलाः सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तरत्नं ॥११॥

गति के–सुगति दुर्गति रूपी कर्म-गति के-नगरों के प्रवासियो अप्रमेय बुद्धिशाली, संसार के अनन्य सार्थवाहों–बुद्धों के द्वारा परखे गये बहुमूल्य बोधिचित्तरत्न को दृढ़ता से ग्रहण करो।

कदलीव फलं विहाय याति क्षयमन्यत् कुशलं हि सर्वमेव ।
सततं फलति क्षयं न याति प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः ॥१२॥

सभी दूसरे पुण्य (वृक्ष) फल देकर केले के समान क्षीण हो जाते हैं पर बोधिचित्त वृक्ष सदा फलते रहने पर भी क्षीण नहीं होता प्रत्युत फलता-फूलता ही रहता है ।

कृत्वापि पापानि सुदारुणानि यदाश्रयादुत्तरति क्षणेन ।
शूराश्रयेणेव महाभयानि नाश्रीयते तत्कथमज्ञसत्त्वैः ॥१३॥

उस बोधिचित्त का मूढ़ प्राणी क्यों नहीं सहारा लेते, जिसका कि सहारा लेकर अत्यन्त दारुण पाप करके भी (मनुष्य) क्षण भर में उसी तरह पार हो जाता है, जिस तरह कि वीर पुरुष के सहारे लोग महाभयों से पार होते हैं ।

युगान्तकालानलवन्महान्ति पापानि यन्निर्दहति क्षणेन ।
यस्यानुशंसानमितानुवाच मैत्रेयनाथः सुधनाय धीमान् ॥१४॥

जो प्रलय काल की अग्नि के समान क्षण भर में महापातकों को जला डालता है, जिसकी अमित अनुशंसाएं मैत्रेयनाथ ने सुधन* से कही हैं (उस बोधिचित्त का मूढ़ प्राणी क्यों नहीं सहारा लेते)।

तद्बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः ।
बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च ॥१५॥

संक्षेप से उस बोधिचित्त के दो भेद हैं—बोधिप्रणिधान चित्त और बोधिप्रस्थान चित्त ।

गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेदः प्रतीयते ।
तथा भेदोऽनयोर्ज्ञेयो याथासंख्येन पंडितैः ॥१६॥

जाने की इच्छावाले और जाते हुए (व्यक्तियों) में जैसा अन्तर होता है, वैसा ही अन्तर पंडितों को इनमें क्रम से समझ लेना चाहिये ।

बोधिप्रणिधिचित्तस्य संसारेऽपि फलं महत् ।
नत्वविच्छिन्नपुण्यत्वं यथा प्रस्थानचेतसः ॥१७॥

बोधिप्रणिधान चित्त का भी संसार में महान् फल होता है पर बोधिप्रस्थान चित्त के समान इस में पुण्य की निरन्तरता नहीं रहती ।

यतः प्रभृत्यपर्यन्तसत्त्वधातुप्रमोक्षणे ।
समाददाति तच्चित्तमनिवर्त्येन चेतसा ॥१८॥

---

*गंडव्यूह सूत्र में सुधन बोधिसत्त्व को संबोधन करके मैत्रेयनाथ ने बोधिचित्त के महत्त्व पर कहा है। इस सूत्र के जिस अंश का उद्धरण प्रज्ञाकरमति ने किया है, वह यों है—"बोधिचित्तं हि कुलपुत्र बीजभूतं सर्वबुद्धधर्माणां। क्षेत्रभूतं सर्वजगच्छुक्लधर्मविरोहणतया। धरणिभूतं सर्वलोकप्रतिशरणतया। यावत्पितृभूतं सर्वबोधिसत्त्व-आरक्षणतया ॥ पेयालं ॥ वैश्रवणभूतं सर्वदारिद्र्यसंछादनतया। चिन्तामणिराजभूतं सर्वार्थसंसाधनतया। भद्रघटभूतं सर्वाभिप्रायपरिपूरणतया। शक्तिभूतं क्लेशशत्रुविजयाय ।"

ततः प्रभृति सुप्तस्य प्रमत्तस्याप्यनेकशः ।
अविच्छिन्नाः पुण्यधाराः प्रवर्तन्ते नभःसमाः ॥१९॥

जब से लेकर अनन्त सत्त्वधातु (=प्राणिलोक) की मुक्ति के लिये (मनुष्य) अनिवर्तनीय चित्त से उस (बोधि–) चित्त को ग्रहण करता है, तब से लेकर सोते (जागते),(सावधान) प्रमत्त (सभी अवस्थाओं में) बार-बार आकाश के समान पुण्य का निरंतर प्रवाह बहता रहता है।

इदं सुबाहुपृच्छायां सोपपत्तिकमुक्तवान् ।
हीनाधिमुक्तिसत्त्वार्थं स्वयमेव तथागतः ॥२०॥

तथागत ने स्वयं ही सुबाहुपृच्छा (नामक सूत्र) में हीनयान के श्रद्धालु लोगों को लक्ष्य करके, इस (बोधिचित्त द्वारा पुण्य की निरन्तरता) को युक्तिपूर्वक कहा है। [उस युक्ति का यहां अगले दो श्लोकों में वर्णन है।]

शिरःशूलानि सत्त्वानां नाशयामीति चिन्तयन् ।
अप्रमेयेण पुण्येन गृह्यते स्म हिताशयः ॥२१॥

किमुताप्रमितं शूलमेकैकस्य जिहीर्षतः ।
अप्रमेयगुणं सत्त्वमेकैकं च चिकीर्षतः ॥२२॥

कुछ प्राणिओं की शिरःपीड़ा दूर करने की बात सोचनेवाले हितचिंतक को अप्रमेय पुण्य मिलता है। फिर प्रत्येक प्राणी की प्रमाणरहित पीड़ाओं के हरने और प्रत्येक प्राणी को अपार गुणवान् बनाने की इच्छावाले (बोधिसत्त्व) के पुण्य का कहना ही क्या ?

कस्य मातुः पितुर्वापि हिताशंसेयमीदृशी ।
देवतानामृषीणां वा ब्रह्मणां वा भविष्यति ॥२३॥

माता अथवा पिता, देवताओं, ऋषियों अथवा ब्राह्मणों में से किसकी इस प्रकार की हितभावना होगी।

तेषामेव च सत्त्वानां स्वार्थे ऽप्येष मनोरथः ।
नोत्पन्नपूर्वः स्वप्ने ऽपि परार्थे संभवः कुतः ॥२४॥

यह मनोरथ स्वप्न तक में अपने लिये भी उन सत्त्वों के (मन में) उत्पन्न न हुआ, फिर दूसरों के लिये उसका होना सम्भव कैसे ?

सत्त्वरत्नविशेषो ऽयमपूर्वो जायते कथं ।
यत्परार्थाशयो ऽन्येषां न स्वार्थे ऽप्युपजायते ॥२५॥

यह कैसा अपूर्व सत्त्वरत्न जनमा है! जिसका परार्थ चिंतन (अन्य सत्त्वों में) स्वार्थ के लिये भी उत्पन्न नहीं होता।

जगदानन्दबीजस्य जगद्दुःखौषधस्य च ।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्र ीयतां ॥२६॥

जो जगत् के आनन्द का बीज है और जगत् के दुःखों की औषध है उस चित्त-रत्न का जो पुण्य है, उसे कैसे मापा जाए ?

हिताशंसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते ।
किं पुनः सर्वसत्त्वानां सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ॥२७॥

कोरी हितैषिता भी बुद्धपूजा से श्रेष्ठ होती है, फिर सब प्राणियों के लिये सब सुखों के प्रयत्न का कहना ही क्या ?

दुःखमेवाभिधावन्ति दुःखनिःसरणाशया ।
सुखेच्छयैव संमोहात् स्वसुखं घ्नन्ति शत्रुवत् ॥२८॥

दुःख से निकलने की इच्छा से (प्राणी) दुःख की ओर ही दौड़ते हैं। मोहवश (वे) सुखों की इच्छा से ही शत्रु के समान अपने सुखों की हत्या कर डालते हैं।

यस्तेषां सुखरंकाणां पीडितानामनेकशः ।
तृप्तिं सर्वसुखैः कुर्यात् सर्वाः पीडाश्छिनत्ति च ॥२९॥
नाशयत्यपि संमोहं साधुस्तेन समः कुतः ।
कुतो वा तादृशं मित्रं पुण्यं वा तादृशं कुतः ॥३०॥

जो, सुख के दीन उन अनेक प्रकार से पीड़ितों को सब सुखों से तृप्त करता है, उनकी सब पीड़ाओं को दूर करता है, उनके अज्ञान का नाश करता है; भला उसके समान साधु कहां होगा, उसके समान मित्र कहां होगा, अथवा उसके समान पुण्य कहां होगा।

कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत्प्रशस्यते ।
अव्यापारितसाधुस्तु बोधिसत्त्वः किमुच्यतां ॥३१॥

जो उपकार करने पर प्रत्युपकार करता है, उसकी भी प्रशंसा होती है। फिर अकारण मित्र बोधिसत्त्व के विषय में कहना ही क्या ?

कतिपयजनसत्रदायकः कुशलकृदित्यभिपूज्यते जनैः ।
क्षणमशनकमात्रदानतः सपरिभवं दिवसार्धयापनात् ॥३२॥

कुछ लोगों को, किसी-किसी क्षण, तिरस्कार के साथ, रूखा-सूखा भोजन, जिससे आधा ही दिन बिताया जा सकता है--देने से सत्रदायक (सदाबर्त्त खोलनेवाले) को पुण्यात्मा मान कर लोग पूजते हैं।

किमु निरवधिसत्त्वसंख्यया निरवधिकालमनुप्रयच्छतः ।
गगनजनपरिक्षयाक्षयं सकलमनोरथसंप्रपूरणं ॥३३॥

आकाश में जीवधारियों की स्थितिकाल तक अक्षय, संपूर्ण मनोरथों के परिपूर्ण करनेवाले, असंख्यप्राणिसहगत, अनन्त काल तक के दान के दाता के विषय में कहना ही क्या ?

इति सत्रपतौ जिनस्य पुत्रे कलुषं स्वे हृदये करोति यश्च ।
कलुषोदयसंख्यया स कल्पान् नरकेष्वावसतीति नाथ आह ॥३४॥

इस तरह के दानपति, बुद्धपुत्र के प्रति, जो अपने मन में पाप की बात सोचता है, उसे उतने कल्प तक नरक में रहना पड़ता है जितने क्षण तक कि उसके हृदय में पाप का विचार उठता रहता है।

अथ यस्य मनः प्रसादमेति प्रसवेत्तस्य ततो ऽधिकं फलं।
महता हि बलेन पापकर्म जिनपुत्रेषु शुभं त्वयत्नतः ।।३५।।

पर जिसके मन में श्रद्धा होती है, उसे और भी अधिक फल होता है। बलवत्तर पाप के कारण ही बुद्धपुत्रों के प्रति कोई कुकृत कर बैठता है। उनके प्रति सुकृत सहज ही होता है।

तेषां शरीराणि नमस्करोमि
यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्नं।
यत्रापकारो ऽपि सुखानुबन्धी
सुखाकरांस्तान् शरणं प्रयामि ।।३६।।

जिनमें वह श्रेष्ठ बोधिचित्तरत्न उत्पन्न हुआ है, उनके शरीरों को प्रणाम करता हूं। जिनके प्रति किया गया अपकार भी सुख देता है, उन सुख के आकरों की शरण जाता हूं।

द्वितीय परिच्छेद

पापदेशना

तच्चित्तरत्नग्रहणाय सम्यक् पूजां करोम्येष तथागतानां।
सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनां ॥१॥

उस बोधिचित्तरत्न के ग्रहण करने के लिए बुद्धों की, निर्मल सद्धर्मरत्न की और गुणसागर बुद्धपुत्रों की मैं पूजा करता हूं।

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव भैषज्यजातानि च यानि सन्ति।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके जलानि च स्वच्छमनोरमाणि ॥२॥

लोक में जितने पुष्प हैं, फल हैं और जितनी ओषधियां हैं तथा जितने स्वच्छ और मनोरम रत्न एवं जल हैं।

महीधरा रत्नमयास्तथान्ये वनप्रदेशाश्च विवेकरम्याः।
लताः सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्च द्रुमाश्च ये सत्फलनम्रशाखाः ॥३॥

तथा अन्य जो रत्नमय पर्वत और एकान्तरमणीय वनखंड हैं, तथा जो सुन्दर पुष्पाभूषणों से उज्ज्वल लताएं और सत् फलों से झुकी शाखाओं वाले वृक्ष हैं।

देवादिलोकेषु च गन्धधूपाः कल्पद्रुमा रत्नमयाश्च वृक्षाः।
सरांसि चाम्भोरुहभूषणानि हंसस्वनात्यन्तमनोहराणि ॥४॥

देवताओं के लोकों में तथा अन्यत्र जो गन्ध-धूप हैं, कल्पवृक्ष और रत्नमयवृक्ष हैं, तथा कमलों से भूषित, हंसों की कूजन से अत्यन्त मनोहर सरोवर हैं।

अकृष्टजातानि च शस्यजातान्यन्यानि वा पूज्यविभूषणानि।
आकाशधातुप्रसरावधीनि सर्वाण्यपीमान्यपरिग्रहाणि ॥५॥

अपने आप उत्पन्न जो धान्य हैं अथवा आकाशधातु की व्याप्ति पर्यन्त उपलभ्य जो अन्यान्य पूजनीयजनोचित पदार्थ हैं। ये सब यदि परपरिगृहीत नहीं हैं तो--

आदाय बुद्ध्या मुनिपुंगवेभ्यो निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्यः।
गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया महाकृपा मामनुकम्पमानाः ॥६॥

इनका बुद्धि से ग्रहण कर, सपुत्र मुनिवरों के प्रति उत्सर्ग करता हूं। हे श्रेष्ठ दक्षिणा के पात्र महाकृपालुओ! मुझ पर अनुग्रह करके मेरा वह (सब उपहार) स्वीकार करो।

अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किंचित्।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥७॥

अपुण्यवान् हूं, महा दरिद्र हूं, पूजा के लिए मेरे पास और कुछ नहीं है। अतएव हे निःस्वार्थचित्त प्रभुओ मेरे (हित के) अर्थ इसे अपनी शक्ति से स्वीकार करो।

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः ।
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्त्वा युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ॥८॥

बुद्धों और उनके आत्मजों के प्रति मैं सब प्रकार से पूर्ण आत्मसमर्पण करता हूं। हे अग्रसत्त्वो ! मुझे स्वीकार करो। मैं भक्ति से तुम्हारा दास हूं।

परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन निर्भीर्भवे सत्त्वहितं करोमि ।
पूर्वं च पापं समतिक्रमामि नान्यच्च पापं प्रकरोमि भूयः ॥९॥

तुम्हारे स्वीकार करने से संसार में भयरहित हो मैं प्राणि-हित करूंगा। पहले के पापों को छोड़ दूंगा तथा दूसरा पाप नहीं करूंगा।

रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु ।
स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिककुट्टिमेषु सुगन्धिषु स्नानगृहेषु तेषु ॥१०॥

सुगन्ध से पूर्ण उन स्नानागारों में, जो रत्नों से देदीप्यमान स्तंभों के कारण मनोरम हैं, जिनके वितान (चंदवे) मुक्ताजटित एवं भास्वर हैं, जिनके कुट्टिम (फ़र्श) स्वच्छ तथा श्वेत स्फटिक के हैं।

मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णैः कुम्भैर्महारत्नमयैरनेकैः ।
स्नानं करोम्येष तथागतानां तदात्मजानां च सगीतवाद्यं ॥११॥

मैं तथागतों और उनके आत्मजों को, सुगन्धित जल और पुष्पों से पूर्ण महारत्नों के अनेकों कलशों से, गीतवाद्यपूर्वक स्नान कराता हूं।

प्रधूपितैर्धौतमलैरतुल्यैर्वस्त्रैश्च तेषां तनुमुन्मृषामि ।
ततः सुरक्तानि सुधूपितानि ददामि तेभ्यो वरचीवराणि ॥१२॥

धूपे हुए निर्मल वस्त्रों से उनके शरीरों को पोंछता हूं। फिर अच्छी तरह रंगे, अच्छी तरह धूपे हुए, उत्तम चीवर उनको भेंट करता हूं।

दिव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैर्वस्त्रैरलंकारवरैश्चतैस्तैः ।
समन्तभद्राजितमंजुघोषलोकेश्वरादीनपि मण्डयामि ॥१३॥

दिव्य, कोमल, चिकने, और विचित्र शोभावाले वस्त्रों और आभूषणों से समन्तभद्र, अजित, मंजुघोष तथा लोकेश्वर आदि (बोधिसत्त्वों) को भी विभूषित करता हूं।

सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धैर्गन्धोत्तमैस्ताननुलेपयामि ।
सूत्तप्तसून्मृष्टसुधौतहेमप्रभोज्ज्वलान् सर्वमुनीन्द्रकायान् ॥१४॥

समूचे त्रिसाहस्र* लोकधातु में सुगन्ध को फैलाने वाले उतम गन्धद्रव्यों से सब

---

*त्रिसाहस्र–शत कोटि चतुर् (=उत्तर कुरु, अपर गोदानीय, पूर्वविदेह, जंबूद्वीप,) द्वीप।

१००० चतुर्द्वीप (चन्द्र सूर्य सुमेरु कामधातुदेव ब्रह्मलोक सहित)=चूडसाहस्र
१००० चूडसाहस्र=मध्यसाहस्र अथवा द्विसाहस्र
१००० मध्यसाहस्र=महासाहस्र अथवा त्रिसाहस्र (अभिधर्मकोश ३।७३,७४)

मुनिवरों के शरीरों को अनुलिप्त करता हूं, जो अच्छी तरह तपाए, मांजे और धोए गए सुवर्ण की प्रभा के समान उज्ज्वल हैं।

मान्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः सर्वैः सुगन्धैः कुसुमैर्मनोज्ञैः।
अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् मुनीन्द्रान् स्रग्भिश्च संस्थानमनोरमाभिः ॥१५॥

मान्दारव, उत्पल तथा मल्लिका आदि सब सुगंधित मनोहर पुष्पों तथा सुन्दर गूंथी हुई मालाओं द्वारा परम पूजनीय मुनिवरों की पूजा करता हूं।

स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च तान्धूपमेघैरुपधूपयामि।
भोज्यैश्च खाद्यैर्विविधैश्च पेयैस्तेभ्यो निवेद्यं च निवेदयामि ॥१६॥

उन्हें धूप के मेघों से धूप देता हूं जो अपने फैलने वाले निर्मल गन्ध से मन को विश्राम देते हैं तथा विविध प्रकार के भोज्य, खाद्य और पेयों से उन्हें नैवेद्य अर्पित करता हूं।

रत्नप्रदीपांश्च निवेदयामि सुवर्णपद्मेषु निविष्टपंक्तीन्।
गन्धोपलिप्तेषु च कुट्टिमेषु किरामि पुष्पप्रकरान् मनोज्ञान् ॥१७॥

सुवर्ण कमलों पर पंक्ति में सजे रत्न-प्रदीप समर्पित करता हूं और सुगन्ध से लिप्त कुट्टिमों पर मनोहर पुष्पसमूह बिखेरता हूं।

प्रलम्बमुक्तामणिहारशोभानाभास्वरान् दिग्मुखमण्डनांस्तान्।
विमानमेघान् स्तुतिगीतरम्यान् मैत्रीमयेभ्योऽपि निवेदयामि ॥१८॥

लटकते हुए मुक्तामणियों के हारों से शोभित, चमकते हुए, दिशामुखों को विभूषित करनेवाले, स्तुति और गीतों से रमणीय उन विमान मेघों को मैत्रीमय (बुद्धों और बोधिसत्त्वों) की भेंट करता हूं।

सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपैः संसक्तमुक्तानि समुच्छ्रितानि।
प्रधारयाम्येष महामुनीनां रत्नातपत्राण्यतिशोभनानि ॥१९॥

सुवर्णखचित-दंड, रूपमनोहर, मुक्ताजटित, अतिरमणीय, तने हुए, रत्नमय छत्र महामुनियों के ऊपर धारण कराता हूं।

अतः परं प्रतिष्ठन्तां पूजामेघा मनोरमाः।
तूर्यसंगीतिमेघाश्च सर्वसत्त्वप्रहर्षणाः ॥२०॥

इसके बाद मनोरम पूजा-मेघ तथा सब प्राणियों को आनंदित करने वाले नृत्य-गीत-वादित्रमेघ प्रवृत्त हों।

सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च।
पुष्परत्नादिवर्षाश्च प्रवर्तन्तां निरन्तरं ॥२१॥

संपूर्ण सद्धर्म-रत्नों, स्तूपों और प्रतिमाओं पर निरन्तर पुष्प रत्नादि की वर्षा होती रहे।

मंजुघोषप्रभृतयः पूजयन्ति यथा जिनान्।
तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहं ॥२२॥

मंजुघोष प्रभृति बोधिसत्त्व जिस तरह बुद्धों की पूजा करते हैं, उसी तरह प्रभु तथागतों की पुत्रोंसहित मैं पूजा करता हूं।

स्वरांगसागरैः स्तोत्रैः स्तौमि चाहं गुणोदधीन्।
स्तुतिसंगीतिमेघाश्च संभवन्त्वेष्वनन्यथा ॥२३॥

स्वरप्रभेदों के समुद्र रूप स्तोत्रों से मैं उन गुण-समुद्रों की स्तुति करता हूं। यहां स्तुति-संगीतियों के मेघ अनुरूप भाव से उमड़ पड़ें।

सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च प्रणामैः प्रणमाम्यहं।
सर्वत्र्यध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ॥२४॥

त्रैकालिक सब बुद्धों को, उत्तम धर्म और संघ सहित, सब बुद्धक्षेत्रों के परमाणुओं की संख्या जितने, प्रणामों से प्रणाम करता हूं।

सर्वचैत्यानि वन्देऽहं बोधिसत्त्वाश्रयांस्तथा।
नमः करोम्युपाध्यायान् अभिवन्द्यान् यतींस्तथा ॥२५॥

सब स्तूपों और बोधिसत्त्व-मंदिरों की वंदना करता हूं। उपाध्यायों और अभिवादन के योग्य तपस्वियों को नमस्कार करता हूं।

बुद्धं गच्छामि शरणं यावदाबोधिमण्डतः।
धर्मं गच्छामि शरणं बोधिसत्त्वगणं तथा ॥२६॥

जितना काल बोधितत्त्व की प्राप्ति में लगे उतने काल तक के लिए मैं बुद्ध की शरण जाता हूं, धर्म की शरण जाता हूं और बोधिसत्त्व-संघ की शरण जाता हूं।

विज्ञापयामि संबुद्धान् सर्वदिक्षु व्यवस्थितान्।
महाकारुणिकांश्चापि बोधिसत्त्वान् कृतांजलिः ॥२७॥

सब दिशाओं में व्यापक होकर स्थित महाकारुणिक संबुद्धों और बोधिसत्त्वों से अंजलि बांध निवेदन करता हूं।

अनादिमति संसारे जन्मन्यत्रैव वा पुनः।
यन्मया पशुना पापं कृतं कारितमेव च ॥२८॥
यच्चानुमोदितं किंचिदात्मघाताय मोहितः।
तदत्ययं देशयामि पश्चात्तापेन तापितः ॥२९॥

आदि रहित संसार में अथवा इसी जन्म में मुझ पशु ने जो पाप किए और कराए हैं और मोहवश जो आत्मघात का अनुमोदन किया है, उस अपराध के पश्चात्ताप से खिन्न होकर मैं देशना करता हूं।

रत्नत्रयेऽपकारो यो मातापितृषु वा मया।
गुरुष्वन्येषु वा क्षेपात्कायवाग्बुद्धिभिः कृतः ॥३०॥
अनेकदोषदुष्टेन मया पापेन नायकाः।
यत्कृतं दारुणं पापं तत्सर्वं देशयाम्यहं ॥३१॥

त्रिरत्न के प्रति, माता-पिता के प्रति तथा अन्य गुरुजनों के प्रति मोहवश काय-वाग्-मन से जो अपकार हो गए हैं (अथवा जानबूझ कर) अनेक दोषों से दूषित मुझ पातकी ने जो दारुण पाप किए हैं, उन सब की देशना करता हूं।

कथं च निःसराम्यस्मान्नित्योद्विग्नो ऽस्मि नायकाः।
मा भून्मे मृत्युरचिरादक्षीणे पापसंचये ॥३२॥

कैसे इस (पातक) से निकलूं! नायको, मैं सदा व्याकुल रहता हूं। पापराशि के क्षीण हुए बिना झटपट मेरी मृत्यु न हो।

कथं च निःसराम्यस्मात् परित्रायत सत्त्वरं।
मा ममाक्षीणपापस्य मरणं शीघ्रमेष्यति ॥३३॥

शीघ्र बचाओ! कैसे इस (पाप) से मेरा उद्धार होगा। बिना पाप क्षीण हुए मुझे शीघ्र मरना न पड़े।

कृताकृतापरीक्षोऽयं मृत्युर्विश्रम्भघातकः।
स्वस्थास्वस्थैरविश्वास्य आकस्मिकमहाशनिः ॥३४॥

यह मृत्यु विश्वासघाती है, यह कभी नहीं देखती कि क्या किया गया है और क्या नहीं। इस अकस्मात् गिरनेवाली गाज के रहते स्वस्थ या अस्वस्थ होने का भरोसा ही क्या?

प्रियाप्रियनिमित्तेन पापं कृतमनेकधा।
सर्वमुत्सृज्य गन्तव्यमिति न ज्ञातमीदृशं ॥३५॥

दोनों प्रियों और अप्रियों के कारण मैंने अनेक पाप किए हैं। सब को यहीं छोड़ जाना होगा। ऐसा कभी सोचा तक नहीं।

अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियो मे न भविष्यति।
अहं च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति ॥३६॥

अप्रिय न रहेंगे, मेरा प्रिय न रहेगा, मैं न रहूंगा तथा (यह) सब (भी) न रहेगा।

तत्तत्स्मरणतां याति यद्यद्वस्त्वनुभूयते।
स्वप्नानुभूतवत्सर्वं गतं न पुनरीक्ष्यते ॥३७॥

जिस-जिसका अनुभव होता है उस-उस वस्तु का स्मरण होता है। अतीत स्वप्न के अनुभव के समान फिर नहीं दिखाई पड़ता।

इहैव तिष्ठतस्तावद् गता नैके प्रियाप्रियाः।
तन्निमित्तं तु यत्पापं तत् स्थितं घोरमग्रतः ॥३८॥

यहीं रहते-रहते अनेक प्रिय और अप्रिय चले गए पर उनके निमित्त जो पाप किया गया वह घोर रूप से आगे खड़ा है।

एवमागन्तुकोऽस्मीति न मया प्रत्यवेक्षितं।
मोहानुनयविद्वेषैः कृतं पापमनेकधा ॥३९॥

मैंने नहीं सोचा कि मैं इस तरह क्षण भर का मेहमान हूं। राग, द्वेष और मोहवश मैंने अनेक प्रकार के पाप किए।

रात्रिदिवमविश्राममायुषो वर्धते व्ययः।
आयस्य चागमो नास्ति न मरिष्यामि किं न्वहं ॥४०॥

दिनरात निरंतर आयु का व्यय बढ़ता जाता है पर आय कहीं से नहीं होती। फिर भला मैं क्यों न मरूंगा।

इह शय्यागतेनापि बन्धुमध्येऽपि तिष्ठता।
मयैवेकेन सोढव्या मर्मच्छेदादिवेदना ॥४१॥

यहां खाट पर पड़े रह कर भी, बन्धुओं के बीच रहते हुए भी, (मरण काल में) मुझे अकेले ही मर्म-छेद आदि पीड़ाएं सहनी होंगी–

यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत्।
पुण्यमेकं तदा त्राणं मया तच्च न सेवितं ॥४२॥

यमदूतों द्वारा पकड़े जाने पर कहां बन्धु ! कहां मित्र ! ! उस समय एकमात्र शरण पुण्य है और उसका मैंने आचरण नहीं किया।

अनित्यजीवितासङ्गादिदं भयमजानता।
प्रमत्तेन मया नाथा बहु पापमुपार्जितं ॥४३॥

क्षणभंगुर जीवन में आसक्ति के कारण, इस भय को न जानते हुए, हे प्रभुओ ! मुझ प्रमत्तने बहुत पाप कमाए।

अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य नीयमानो विशुष्यति।
पिपासितो दीनदृष्टिरन्यदेवेक्षते जगत् ॥४४॥

आज अंगच्छेद के लिए ले जाया जाने वाला व्यक्ति भी (डर के मारे) सूख जाता है, उसे प्यास लगती है और उस दीनदृष्टि को जगत् कुछ और ही दिखाई पड़ता है।

किं पुनर्भैरवाकारैर्यमदूतैरधिष्ठितः।
महात्रासज्वरग्रस्तः पुरीषोत्सर्गवेष्टितः ॥४५॥

कातरैर्दृष्टिपातैश्च त्राणान्वेषी चतुर्दिशं।
को मे महाभयादस्मात् साधुस्त्राणं भविष्यति ॥४६॥

त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा पुनः संमोहमागतः।
तदाहं किं करिष्यामि तस्मिन् स्थाने महाभये ॥४७॥

फिर भयंकराकृति यमदूतों से पकड़े जाने पर, महाभय रूपी ज्वर से ग्रस्त, मलमूत्र में लतपत, 'कौन साधु इस महाभय में मुझे शरण देगा' (यह सोचते), कातर निगाहों से चारों दिशाओं में शरण खोजते हुए, (पर) दिशाओं को शरणरहित देख, मूर्छित हो जाने पर, उस समय उस महाभय के स्थान में मैं क्या करूंगा ?

अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥४८॥

आज ही जगत् की रक्षा में उद्यत, सर्वभयहारी, महाबली, जगन्नाथ बुद्धों की शरण जाता हूं ।

तैश्चाप्यधिगतं धर्मं संसारभयनाशनं ।
शरणं यामि भावेन बोधिसत्त्वगणं तथा ॥४९॥

उनके द्वारा साक्षात्कार किए गए धर्म की, जो संसार के भय का नाशक है, तथा बोधिसत्त्वसंघ की भक्ति से शरण जाता हूं ।

समन्तभद्रायात्मानं ददामि भयविह्वलः ।
पुनश्च मञ्जुघोषाय ददाम्यात्मानमात्मना ॥५०॥

भय से व्याकुल हो मैं समंतभद्र को आत्मदान देता हूं, फिर स्वयं मंजुघोष को आत्मसमर्पण करता हूं ।

तं चावलोकितं नाथं कृपाव्याकुलचारिणं ।
विरौम्यार्तरवं भीतः स मां रक्षतु पापिनं ॥५१॥

उन करुणा से व्याकुल हो दौड़ पड़ने वाले अवलोकितेश्वर को मैं भयभीत होकर कातर स्वर से पुकारता हूं, वे मुझ पापी की रक्षा करें।

आर्यमाकाशगर्भं च क्षितिगर्भं च भावतः ।
सर्वान् महाकृपांश्चापि त्राणान्वेषी विरौम्यहं ॥५२॥

मैं शरण खोजता हुआ, अपने अन्तर से, आर्य आकाशगर्भ तथा क्षितिगर्भ एवं सब महाकारुणिकों को पुकारता हूं ।

यं दृष्ट्वैव च संत्रस्ताः पलायन्ते चतुर्दिशं ।
यमूदतादयो दुष्टास्तं नमस्यामि वज्रिणं ॥५३॥

जिन्हें देखते ही यमदूत आदि दुष्ट डर कर चारों दिशाओं में भाग जाते हैं, उन वज्री को नमस्कार करता हूं ।

अतीत्य युष्मद्वचनं सांप्रतं भयदर्शनात् ।
शरणं यामि वो भीतो भयं नाशयत द्रुतं ॥५४॥

तुम्हारी बात न मान कर, अब भय देख कर डरा हुआ, मैं तुम्हारी शरण जाता हूं, शीघ्र भय दूर करो ।

इत्वरव्याधिभीतोऽपि वैद्यवाक्यं न लङ्घयेत् ।
किमु व्याधिशतैर्ग्रस्तश्चतुर्भिश्चतुरुत्तरैः ॥५५॥

क्षणिक व्याधि के भय से भी कोई वैद्य का वचन नहीं टालता, फिर चार अधिक चार सौ* व्याधियों से ग्रस्त (जन) का कहना ही क्या ?

एकेनापि यतः सर्वे जम्बूद्वीपगता नराः ।
नश्यन्ति येषां भैषज्यं सर्वदिक्षु न विद्यते ।।५६।।

एक ही व्याधि से जंबू द्वीप के सब लोग मरते (रहते) हैं, जिनकी चिकित्सा सब दिशाओं में ढूंढ़े नहीं मिलती ।

तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य सर्वशल्यापहारिणः ।
वाक्यमुल्लंघयामीति धिग् मामत्यन्तमोहितं ।।५७।।

ऐसा होने पर भी, सब व्याधियों के दूर करने वाले, सर्वज्ञ वैद्य की बात का मैं उल्लंघन करता हूं। मुझ महामूढ़ को धिक्कार !

अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि प्रपातेष्वितरेष्वपि ।
किमु योजनसाहस्र प्रपाते दीर्घकालिके ।।५८।।

छोटे-मोटे प्रपातों से मैं अत्यन्त सावधान रहता हूं, फिर सहस्र योजन गहरे प्रपात से, जहां चिरकाल रहना पड़े, कहना ही क्या ?

अद्यैव मरणं नैति न युक्ता मे सुखासिका ।
अवश्यमेति सा वेला न भविष्याम्यहं यदा ।।५९।।

आज ही तो मृत्यु आ नहीं रही ! मुझे सुख से बैठना ठीक नहीं। अवश्य ही वह समय आएगा जब मैं नहीं रहूंगा ।

अभयं केन मे दत्तं निःसरिष्यामि वा कथं ।
अवश्यं न भविष्यामि कस्मान्मे सुस्थितं मनः ।।६०।।

किसने मुझे अभय दे रखा है ? कैसे निस्तार होगा ? अवश्य (एक दिन मैं यहां) न हूंगा। फिर भी मेरा मन क्यों सुस्थिर है ?

पूर्वानुभूतनष्टेभ्यः किं मे सारमवस्थितं ।
येषु मेऽभिनिविष्टेन गुरूणां लंघितं वचः ।।६१।।

पूर्वानुभूत (वस्तुओं) के नाश हो जाने पर मेरे पास सार बचा ही क्या कि जिनमें आसक्त हो मैंने गुरुवचन न माने ।

जीवलोकमिमं त्यक्त्वा बन्धून् परिचितांस्तथा ।
एकाकी क्वापि यास्यामि किं मे सर्वैः प्रियाप्रियैः ।।६२।।

यह जीवलोक, बन्धु तथा परिचित, (सभी को) छोड़ कहीं अकेला चला जाऊंगा, फिर सब प्रियाप्रियों से मेरा (लेना-देना) क्या ?

---

*एक कालमृत्यु तथा सौ अकाल मृत्यु मिलकर १०१ व्याधियां होती हैं। इन्हीं की संख्या वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात भेद से ४०४ हो जाती है।

इयमेव तु मे चिन्ता युक्ता रात्रिंदिवं सदा ।
अशुभान्नियतं दुःखं निःसरेयं ततः कथं ।।६३।।

रात-दिन सदा मुझे यही चिन्ता करनी चाहिए कि अपुण्य से दुःख निश्चित है और मैं उससे कैसे पार होऊं ?

मया बालेन मूढेन यत् किंचित् पापमाचितं ।
प्रकृत्या यच्च सावद्यं प्रज्ञप्त्यावद्यमेव च ।।६४।।

तत्सर्वं देशयाम्येष नाथानामग्रतः स्थितः ।
कृताञ्जलिर्दुःखभीतः प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः ।।६५।।

जो भी प्रकृतिसावद्य* और प्रज्ञप्तिसावद्य** पाप मुझ अबोध मूढ़ ने कमाए, उन सब की देशना, दुःख से घबराकर मैं, प्रभुओं के सामने हाथ जोड़, बारंबार प्रणाम कर, करता हूं ।

अत्ययमत्ययत्वेन प्रतिगृह्णन्तु नायकाः ।
न भद्रकमिदं नाथा न कर्तव्यं पुनर्मया ।।६६।।

हे नायको, अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करो। हे प्रभुओ, मैं यह पाप फिर न करूंगा ।

---

*प्रकृतिसावद्य=स्वभाव से निन्दनीय; प्राणिवध, चोरी, व्यभिचार, असत्यभाषण आदि दुष्कर्म ।

**प्रज्ञप्तिसावद्य=व्रत ग्रहण करके भंग करने के कारण निन्दनीय; विकालभोजन, कामिनी-कांचन परिग्रह आदि दुष्कर्म ।

तृतीय परिच्छेद

बोधिचित्त-परिग्रह

अपायदुःखविश्रामं सर्वसत्त्वैः कृतं शुभं।
अनुमोदे प्रमोदेन सुखं तिष्ठन्तु दुःखिताः ॥१॥

दुर्गतियों के दुःख से विश्राम और सब प्राणियों द्वारा किए गए पुण्य का अनुमोदन प्रमोद से करता हूं। दुःखित सुखी हों।

संसारदुःखनिर्मोक्षमनुमोदे शरीरिणां।
बोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वमनुमोदे च तायिनां ॥२॥

शरीरधारियों की सांसारिक दुःखों से मुक्ति का अनुमोदन करता हूं। तायियों* की बोधिसत्त्वता और बुद्धता का अनुमोदन करता हूं।

चित्तोत्पादसमुद्रांश्च सर्वसत्त्वसुखावहान्।
सर्वसत्त्वहिताधानाननुमोदे च शासिनां ॥३॥

सब प्राणियों को सुख देनेवाले तथा सब प्राणियों का हित करनेवाले बोधिसत्त्वों के चित्तोत्पाद समुद्रों का अनुमोदन करता हूं।

सर्वासु दिक्षु संबुद्धान् प्रार्थयामि कृताञ्जलिः।
धर्मप्रदीपं कुर्वन्तु मोहाद् दुःखप्रपातिनां ॥४॥

सब दिशाओं में (विद्यमान) संबुद्धों से हाथ जोड़ प्रार्थना करता हूं कि वे मोहवश दुःख-पतितों के लिए धर्मदीप जलाएं।

निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलिः।
कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूदन्धमिदं जगत् ॥५॥

परिनिर्वाणाभिमुख बुद्धों से सांजलि याचना करता हूं कि वे अनंत कल्पों तक ठहरें, ताकि जगत् में अंधेरा न हो।

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभं।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥६॥

एवं यह सब करके मैंने जो पुण्यार्जन किया है, उससे सब प्राणियों का सर्वदुःखशमनकारी बनूं।

---

*तायी=तायिन्=तादिन्=वैदिक तादृश्, अक्षरार्थ 'वैसा'। जो भाव आज 'सन्त' शब्द से प्रकट होता है। उसी का द्योतक कभी 'तायी' या 'तादी' था। इस शब्द पर अनेक अर्थों का बाद में आरोप हुआ है।

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च।
तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगापुनर्भवः ॥७॥

व्याधि दूर होने तक मैं रोगियों के लिए औषध बनूं, वैद्य भी बनूं और परिचारक भी बनूं।

क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनं ॥८॥

अन्न-पान की वर्षा से क्षुधा और पिपासा की व्यथा मिटाऊं तथा दुर्भिक्षान्तर-कल्पों* में पान-भोजन बनूं।

दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥९॥

दरिद्र प्राणियों के लिए मैं अक्षय निधि बनूं और नाना प्रकार के उपकरणों से उनके आगे उपस्थित रहूं।

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभं।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥१०॥

मैं अपने आत्मभाव (=शरीर), भोगों और त्रैकालिक सकल पुण्यों का अनासक्ति भाव से सब प्राणियों की अर्थसिद्धि के लिए उत्सर्ग करता हूं।

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयतां ॥११॥

सर्वत्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाणार्थी है। मुझे यदि सर्वत्याग करना है तो अच्छा है कि प्राणियों को दूं।

यथा सुखीकृतश्चात्मा मयायं सर्वदेहिनां।
घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पांसुभिः ॥१२॥

सब देहधारियों को जैसे सुख हो वैसे यह शरीर मैंने (निछावर) कर दिया है। वे अब चाहे इसकी हत्या करें, निंदा करें अथवा इस पर धूल फेंकें।

क्रीडन्तु मम कायेन हसन्तु विलसन्तु च।
दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं ममानया ॥१३॥

---

* संवर्त (=प्रलय) के तीन भेद हैं—तेजःसंवर्त, आपःसंवर्त और वायुसंवर्त। आपःसंवर्त से पूर्व लोग शस्त्रों द्वारा लड़-भिड़ कर बहुत कुछ ध्वस्त हो चुकते हैं। तेजःसंवर्त से पहले लोग व्याधियों से नष्ट हो चुकते हैं तथा वायुसंवर्त से पूर्व लोगों का दुर्भिक्ष से बहुत कुछ संहार हो चुकता है। [महाव्युत्पत्ति ccliii 64-70] पंचिका पृष्ठ ७८ टिप्पणी १।

मेरे शरीर से चाहे खेलें, हंसे और विलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता ? मैंने शरीर उन्हें दे ही डाला है।

कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषां सुखावहं ।
अनर्थः कस्य चिन्मा भून्मामालम्ब्य कदा चन ।।१४।।

जिन-जिन कार्यों से उन्हें सुख मिलता हो वे-वे कार्य (मेरे शरीर से) कराएं। मेरे कारण कभी किसी का अनर्थ न हो।

येषां क्रुद्धा प्रसन्ना वा मामालम्ब्य मतिर्भवेत् ।
तेषां स एव हेतुः स्यान्नित्यं सर्वार्थसिद्धये ।।१५।।

जिनका मन मेरे कारण क्रुद्ध या प्रसन्न हो उनके लिए वही सर्वार्थसिद्धि का कारण हो।

अभ्याख्यास्यन्ति मां ये च ये चान्ये ऽप्यपकारिणः ।
उत्प्रासकास्तथान्ये ऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः ।।१६।।

जो मेरे निंदक होंगे, और जो भी अपकारी होंगे, तथा और भी जो उपहास-कर्ता आदि होंगे, वे सब बोधिलाभी हों।

अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनां ।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ।।१७।।

मैं अनाथों का नाथ, यात्रियों का सार्थवाह, तथा पारेच्छुकों की नौका, सेतु एवं बेड़ा बनूं।

दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहं ।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनां ।।१८।।

दीपार्थियों का मैं दीप, शय्यार्थियों की मैं शय्या, (तथा) दासार्थियों का मैं दास होऊं।

चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः ।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनां ।।१९।।

प्राणियों के लिए मैं चिन्तामणि, भद्रघट, सिद्धविद्या, महौषधि, कल्पवृक्ष और कामधेनु होऊं।

पृथिव्यादीनि भूतानि निःशेषाकाशवासिनां ।
सत्त्वानामप्रमेयाणां यथा भोगान्यनेकधा ।।२०।।

जैसे पृथ्वी आदि महाभूत अनन्त आकाश पर्यन्त व्यापी अप्रमेय प्राणियों के नाना प्रकार से भोग्य होते हैं।--

एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा ।
भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः ।।२१।।

वैसे ही आकाशव्यापी प्राणिलोक के लिए मैं तब तक नाना प्रकार से उपजीव्य (आश्रय) होऊं, जब तक कि सब मोक्षलाभ न कर लें।

यथा गृहीतं सुगतैर्बोधिचित्तं पुरातनैः।
ते बोधिसत्त्वशिक्षायामानुपूर्व्या यथा स्थिताः ॥२२॥

तद्वदुत्पादयाम्येष बोधिचित्तं जगद्धिते।
तद्वदेव च ताः शिक्षाः शिक्षिष्यामि यथाक्रमं ॥२३॥*

जैसे अतीत के बुद्धों नें बोधिचित्त का ग्रहण किया, जैसे उन्होंने क्रम से बोधिसत्त्वों की शिक्षाओं का पालन किया, वैसे ही जगत्-कल्याण के लिए मैं बोधिचित्त उत्पन्न कर उन शिक्षाओं को वैसे ही क्रम से सीखूंगा।

एवं गृहीत्वा मतिमान् बोधिचित्तं प्रसादतः।
पुनः पृष्ठस्य पुष्ट्यर्थं चित्तमेवं प्रहर्षयेत् ॥२४॥

एवं श्रद्धा के साथ बुद्धिमान् बोधिचित्त ग्रहण कर फिर पूर्व की पुष्टि के लिए यों चित्त हर्षित करे :–

अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः।
अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि सांप्रतं ॥२५॥

आज मेरा जन्म सफल है, मनुष्यजन्म सुलाभवान् है। आज बुद्धकुल में मेरा जन्म हुआ है। अब मैं बुद्धपुत्र हूं।

तथाधुना मया कार्यं स्वकुलोचितकारिणां।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलंको न भवेद्यथा ॥२६॥

अब मुझे अपने कुल के कर्तव्यपरायणों की भांति कार्य करना है, जिसमें इस निर्मल कुल पर कलंक न लगे।

अन्धः संकारकूटेभ्यो यथा रत्नमवाप्नुयात्।
तथा कथंचिदप्येतद् बोधिचित्तं ममोदितं ॥२७॥

अन्धे को जैसे कूड़े के ढेरों से रत्न मिल जाए, वैसे ही यह बोधिचित्त किसी तरह मुझ में उदित हुआ है।

जगन्मृत्युविनाशाय जातमेतद्रसायनं।
जगद्दारिद्र्यशमनं निधानमिदमक्षयं ॥२८॥

जगत् की मृत्यु के नाश के लिए यह रसायन है। जगत् की दरिद्रता दूर करने वाली यह अक्षय निधि है।

जगद्व्याधिप्रशमनं भैषज्यमिदमुत्तमं।
भवाध्वभ्रमणश्रान्तजगद्विश्रामपादपः ॥२९॥

---

*३।२३ से लेकर ४।४५ तक श्लोक तथा टीका बोधिचर्यावतार के बंगाल एशियाटिक सोसायटी के संस्करण में खंडित हैं।

जगत् की व्याधि शान्त करने वाली यह उत्तम ओषधि है । भवमार्ग में घूम-घूम कर थके जगत् का यह विश्रामदायक वृक्ष है ।

दुर्गत्युत्तरणे सेतुः सामान्यः सर्वयायिनां ।
जगत्क्लेशोष्मशमन उदितश्चित्तचन्द्रमाः ।।३०।।

सब यात्रियों के लिए यह सर्वसाधारण सेतु है, जिससे दुर्गति (समुद्र) पार किया जाता है । जगत् के क्लेशताप को शान्त करनेवाला, यह उदित हुआ बोधिचित्त-चन्द्रमा है ।

जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारविः ।
सद्धर्मक्षीरमथनान्नवनीतं समुत्थितं ।।३१।।

जगत् के अज्ञानान्धकार का नाशक यह महासूर्य है । सद्धर्मक्षीर के मन्थन से निकला हुआ यह नवनीत है ।

सुखभोगबुभुक्षितस्य वा जनसार्थस्य भवाध्वचारिणः ।
सुखसत्रमिदं ह्युपस्थितं सकलाभ्यागतसत्त्वतर्पणं ।।३२।।

भवमार्ग के यात्री, सुखभोग के भूखे, प्राणिसमूह के लिए सकल अतिथिजन तृप्त-कारी यह ब्रह्मभोज उपस्थित हुआ है ।

जगदद्य निमन्त्रितं मया
जनसार्थस्य भवाध्वचारिणः ।
पुरतः खलु सर्वतायिना-
मभिनन्दन्तु सुरासुरादयः ।।३३।।

भवमार्ग के यात्री, प्राणिसमूह के जगत् को सब तथागतों के सामने निमन्त्रित करता हूं । सुर, असुर आदि सभी इसका अभिनन्दन करें ।

चतुर्थ परिच्छेद

बोधिचित्ताप्रमाद

एवं गृहीत्वा सुदृढं बोधिचित्तं जिनात्मजः ।
शिक्षानतिक्रमे यत्नं कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥१॥

इस प्रकार बुद्धपुत्र को, दृढ़ता से बोधिचित्त ग्रहण कर, सावधान हो यत्न करना चाहिए कि शिक्षाप्रतिकूल आचरण न हो ।

सहसा यत्समारब्धं सम्यग्यदविचारितं ।
तत्र कुर्यान्नवेत्येवं प्रतिज्ञायापि युज्यते ॥२॥

जिसका सहसा आरंभ हुआ हो, जिस पर सम्यक् विचार न हुआ हो, उस (कार्य) के करने या न करने का विकल्प उचित है, भले ही उसके करने की प्रतिज्ञा कर ली गयी हो ।

विचारितं तु यद् बुद्धैर्महाप्राज्ञैश्च तत्सुतैः ।
मयापि च यथाशक्ति तत्र किं परिलम्ब्यते ॥३॥

पर जिस पर बुद्ध और उनके महाबुद्धिमान् पुत्र विचार कर चुके हैं, उसमें मैं भरसक विलंब क्यों करूं ।

यदि चैवं प्रतिज्ञाय साधयेयं न कर्मणा ।
एतान् सर्वान् विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥४॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर यदि उसे कार्य द्वारा पूर्ण न करूं तो इन सब (प्राणियों) को धोखा देकर (पता नहीं) मेरी क्या गति होगी ।

मनसा चिन्तयित्वापि यो न दद्यात्पुनर्नरः ।
स प्रेतो भवतीत्युक्तमल्पमात्रेऽपि वस्तुनि ॥५॥

जो मन में छोटी सी भी वस्तु देने का संकल्प कर फिर नहीं देता, वह प्रेत होता है । ऐसा कहा गया है ।

किमुतानुत्तरं सौख्यमुच्चैरुद्घुष्य भावतः ।
जगत् सर्वं विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥६॥

भाव के साथ, सर्वोत्तम सुख (दान) की ऊंची घोषणा करने के बाद, सब जगत् को धोखा देकर मेरी क्या गति होगी !

वेत्ति सर्वज्ञ एवैतामचिन्त्यां कर्मणो गतिं ।
यद् बोधिचित्तत्यागे ऽपि मोचयत्येव तान् नरान् ॥७॥

सर्वज्ञ बुद्ध ही कर्म की इस अचिन्त्य गति को जानते हैं, जो बोधिचित्त के त्याग करने पर भी उन मनुष्यों को मुक्त करते हैं।

बोधिसत्त्वस्य तेनैवं सर्वापत्तिगरीयसी।
यस्मादापद्यमानोऽसौ सर्वसत्त्वार्थहानिकृत् ॥८॥

इसलिए इस प्रकार (बोधिचित्त त्याग देने से) बोधिसत्त्व को सब आपत्तियों में गुरुतम (आपत्ति) लगती है। क्योंकि इस आपत्तिवश वह सब प्राणियों की स्वार्थहानि करता है।

योऽप्यन्यः क्षणमप्यस्य पुण्यविघ्नं करिष्यति।
तस्य दुर्गतिपर्यन्तो नास्ति सत्त्वार्थघातिनः ॥९॥

जो कोई दूसरा इस (बोधिसत्त्व) के पुण्य में विघ्न करेगा, उस प्राणियों के स्वार्थघाती की दुर्गति का अन्त नहीं है।

एकस्यापि हि सत्त्वस्य हितं हत्वा हतो भवेत्।
अशेषाकाशपर्यन्तवासिनां किमु देहिनां ॥१०॥

एक प्राणी का हितघात करके भी (मनुष्य) हीन हो जाता है। सर्वाकाशपर्यन्त व्यापी प्राणियों का फिर कहना ही क्या?

एवमापत्तिबलतो बोधिचित्तबलेन च।
दोलायमानः संसारे भूमिप्राप्तौ चिरायते ॥११॥

एवं आपत्तिवश (पतन) तथा बोधिचित्तवश (उत्थान की ओर अग्रसर प्राणी) संसार में दोलायमान रहने से देर में (बोधिसत्त्व) भूमि प्राप्त कर पाता है।

तस्माद्यथाप्रतिज्ञातं साधनीयं मयादरात्।
नाद्य चेत् क्रियते यत्नस्तलेनास्मि तलं गतः ॥१२॥

इसलिए जैसी प्रतिज्ञा की है उसे पूरा करना होगा। आज यदि यत्न नहीं किया तो मैं (रसा-) तल के तल में गया।

अप्रमेया गता बुद्धाः सर्वसत्त्वगवेषकाः।
नैषामहं स्वदोषेण चिकित्सागोचरं गतः ॥१३॥

सब प्राणियों की खोज-ख़बर रखनेवाले असंख्य बुद्ध (आकर) चले गए पर अपन दोष से मैं इनकी चिकित्सा का पात्र न बन सका।

अद्यापि चेत्तथैव स्यां यथैवाहं पुनः पुनः।
दुर्गतिव्याधिमरणच्छेदभेदाद्यवाप्नुयां ॥१४॥

जैसे मैंने बारंबार दुर्गति, व्याधि, मरण, छेदन, भेदन आदि पाए, वैसे ही यदि आज भी (पाता) रहूं (तो)–

कदा तथागतोत्पादं श्रद्धां मानुष्यमेव च।
कुशलाभ्यासयोग्यत्वमेवं लप्स्येऽतिदुर्लभं ॥१५॥

मुझे बुद्धोत्पाद, श्रद्धा, मनुष्यजन्म तथा इस प्रकार पुण्याचरण की अत्यन्त दुर्लभ योग्यता फिर कब मिलेगी।

आरोग्यदिवसं चेदं सभक्तं निरुपद्रवं।
आयुःक्षणं विसंवादि कायो याचितकोपमः ॥१६॥

यह आरोग्य-दिवस है, भात भी प्रस्तुत है, कोई उपद्रव नहीं है, (पर) आयु का क्षण वंचक है, शरीर उधार जैसी वस्तु है।

नहीदृशैर्मच्चरितैर्मानुष्यं लभ्यते पुनः।
अलभ्यमाने मानुष्ये पापमेव कुतः शुभं ॥१७॥

मेरे इस प्रकार के आचरणों से मनुष्यजन्म फिर न मिल सकेगा। मनुष्यजन्म के अभाव में पाप ही होगा। पुण्य भला कहां ?

यदा कुशलयोग्योऽपि कुशलं न करोम्यहं।
अपायदुःखैः संमूढः किं करिष्याम्यहं तदा ॥१८॥

पुण्य करने के योग्य होकर भी जब मैं पुण्य नहीं करता, तब दुर्गति-दुःखों से मूर्छित होकर क्या करूंगा ?

अकुर्वतश्च कुशलं पापं चाप्युपचिन्वतः।
हतः सुगतिशब्दोऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥१९॥

पुण्य न कर, पाप ही कमाने वालों को, शत-शत कल्पकोटि के भीतर सुगति-शब्द भी नहीं सुनने को मिलता।

अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभं।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमं ॥२०॥

इसीलिए भगवान् ने मनुष्यजन्म को, महासमुद्र में (उतराते) जुए (yoke) के छद में कछुए की गर्दन घुसने के समान, अत्यन्त दुर्लभ कहा है।

एकक्षणकृतात् पापादवीचौ कल्पमास्यते।
अनादिकालोपचितात् पापात् का सुगतौ कथा ॥२१॥

एक क्षण के लिए पाप के कारण कल्पभर अवीचि-नरक में रहना पड़ता है, फिर अनादि काल से संचित पाप होने पर सुगति की कथा ही क्या ?

न च तन्मात्रमेवासौ वेदयित्वा विमुच्यते।
यस्मात् तद्वेदयन्नेव पापमन्यत् प्रसूयते ॥२२॥

और न उतने ही पापभोग से मनुष्य मुक्त हो पाता है, क्योंकि उसे भोगते-भोगते ही उससे दूसरा पाप भी हो जाता है।

मातः परा वञ्चनास्ति न च मोहोऽस्त्यतः परः।
यदीदृशं क्षणं प्राप्य नाभ्यस्तं कुशलं मया ॥२३॥

इससे बढ़कर (आत्म) वंचना नहीं है और न इससे बढ़कर मूढ़ता, जो ऐसा क्षण पाकर मैं पुण्य नहीं करता।

यदि चैवं विमृष्यामि पुनः सीदामि मोहितः।
शोचिष्यामि चिरं भूयो यमदूतैः प्रचोदितः ॥२४॥

यदि इस प्रकार विचार करके फिर यों ही मोहमूढ़ पड़ा रहूंगा, तो यमदूतों से चेताए जाने पर मुझे चिर तक फिर पछताना होगा।

चिरं धक्ष्यति मे कायं नरकाग्निः सुदुःसहः।
पश्चात्तापानलश्चित्तं चिरं धक्ष्यत्यशिक्षितं ॥२५॥

नरक की असह्य आग चिर तक मेरे शरीर को जलाएगी और शिक्षा पर न चलने वाले मेरे चित्त को चिर तक पश्चात्ताप की आग झुलसाएगी।

कथं चिदपि संप्राप्तो हितभूमिं सुदुर्लभां।
जानन्नपि च नीयेऽहं तानेव नरकान् पुनः ॥२६॥

किसी प्रकार अत्यन्त दुर्लभ हित-भूमि पाकर मैं जान-बूझकर, फिर (अपने आप को) उन्हीं नरकों की ओर लिए जा रहा हूं।

अत्र मे चेतना नास्ति मन्त्रैरिव विमोहितः।
न जाने केन मुह्यामि कोऽत्रान्तर्मम तिष्ठति ॥२७॥

यहां मुझे चेत नहीं है, मानो मंत्रों से मोह लिया गया हूं, न जाने मुझे कौन मोह रहा है, मेरे अन्तर में कौन बैठा है।

हस्तपादादिरहितास्तृष्णाद्वेषादिशत्रवः।
न शूरा न च ते प्राज्ञाः कथं दासीकृतोऽस्मि तैः ॥२८॥

तृष्णा, द्वेष आदि शत्रुओं के हाथ-पैर नहीं हैं, वे न वीर हैं और न बुद्धिमान्, फिर भी उन्होंने कैसे मुझे अपना दास बना लिया।

मच्चित्तावस्थिता एव घ्नन्ति मामेव सुस्थिताः।
तत्राप्यहं न कुप्यामि धिगस्थानसहिष्णुतां ॥२९॥

मेरे मन में मजे से बैठ मुझे ही मार रहे हैं पर मुझे क्रोध नहीं आता। अनवसर इस सहिष्णुता को धिक्कार।

सर्वे देवा मनुष्याश्च यदि स्युर्मम शत्रवः।
तऽपि नावीचिकं वह्निं समुदानयितुं क्षमाः ॥३०॥

सभी देव और मनुष्य यदि मेरे शत्रु हो जाएं तो भी अवीचि नरक की आग फूंक कर उत्पन्न नहीं कर सकते।

मेरोरपि यदासंगान्न भस्माप्युपलभ्यते।
क्षणात् क्षिपन्ति मां तत्र बलिनः क्लेशशत्रवः ॥३१॥

बलवान् क्लेश-शत्रु मुझे क्षण भर में वहां फेंक रहे हैं जहां छू जाने भर-से सुमेरु तक की भस्म का पता नहीं चलता।

न हि सर्वान्यशत्रूणां दीर्घमायुरपीदृशं।
अनाद्यन्तं महादीर्घं यन्मम क्लेशवैरिणां ॥३२॥

अन्य सब शत्रुओं की आयु भी इतनी दीर्घ नहीं होती, जितनी कि मेरे क्लेश-शत्रुओं की आद्यन्तरहित महान् दीर्घ आयु होती है।

सर्वे हिताय कल्पन्त आनुकूल्येन सेविताः।
सेव्यमानास्त्वमी क्लेशाः सुतरां दुःखकारकाः ॥३३॥

अनुकूलता से सेवा करने पर सभी हित करते हैं, पर ये क्लेश सेवा करने पर और भी अधिक दुःख देते हैं।

इति संततदीर्घवैरिषु व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु।
हृदये निवसत्सु निर्भयं मम संसाररतिः कथं भवेत् ॥३४॥

एवं दुःखसमूह के एकमात्र जनक हेतु, चिर काल के नित्य वैरियों के हृदय में निर्भय रहते हुए, मुझ में संसार से अनुराग कैसे हो सकता है।

भवचारकपालका इमे नरकादिष्वपि बध्यघातकाः।
मतिवेश्मनि लोभपंजरे यदि तिष्ठन्ति कुतः सुखं मम ॥३५॥

भव-कारागार के प्रहरी, नरकादि में भी बध्यघातक ये (क्लेश), यदि बुद्धि-गृह के भीतर लोभ के पिंजड़े में विद्यमान हैं, तो मुझे सुख कहां।

तस्मान्न तावदहमत्र धुरं क्षिपामि यावन्न शत्रव इमे निहताः समक्षं।
स्वल्पेऽपि तावदपकारिणि बद्धरोषा मानोन्नतास्तमनिहत्य न यान्ति निद्रां ॥३६॥

इसलिए जब तक ये शत्रु सामने ही नष्ट नहीं हो जाते, मैं (इस कर्तव्य) धुरा को नहीं फेंकूंगा। साधारण अपकारी पर भी क्रुद्ध हो मानी महापुरुष उसे बिना मारे नींद नहीं लेते।

प्रकृतिमरणदुःखितान्धकारान् रणशिरसि प्रसभं निहन्तुमुग्राः।
अगणितशरशक्तिघातदुःखा न विमुखतामुपयान्त्यसाधयित्वा ॥३७॥

युद्ध-मुख में सहज मृत्यु के दुखान्धकार को बलपूर्वक नाश करने के लिए अगणित बाणों और बर्छियों की चोटों की पीड़ा झेलते तेजस्वी सफल हुए बिना पीछे मुंह नहीं मोड़ते।

किमुत सततसर्वदुःखहेतून् प्रकृतिरिपूनुपहन्तुमुद्यतस्य।
भवति मम विषाददैन्यमद्य व्यसनशतैरपि केन हेतुना वै ॥३८॥

फिर निरंतर सब दुःखों के कारणभूत सहज शत्रुओं का नाश करने में उद्यत मुझे सैकड़ों दुःखों के होने पर भी विषाद और दैन्य किस कारण हो सकता है।

अकारणेनैव रिपुक्षतानि गात्रेष्वलंकारवदुद्वहन्ति ।
महार्थसिद्ध्यै तु समुद्यतस्य दुःखानि कस्मान्मम बाधकानि ।।३९।।

अकारण ही (मनस्वी जन अपने को महान् सिद्ध करने के लिए युद्ध कर) शत्रुओं के द्वारा किए घावों को आभूषणों की भांति अपने अंगों पर धारण करते हैं। फिर महान् अर्थ की सिद्धि के लिए उद्यत मुझे दुःख क्योंकर बाधा पहुंचा सकते हैं।

स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ताः कैवर्तचण्डालकृषीवलाद्याः ।
शीतातपादिव्यसनं सहन्ते जगद्धितार्थं न कथं सहेयं ।।४०।।

केवल अपनी जीविका में मन के आसक्त होने से मछुए, चंडाल, किसान आदि सर्दी-गर्मी आदि के दुःख सहते हैं। जगत् के हित के लिए फिर मैं दुःख क्यों न सहूं !

दशदिग्व्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणे ।
प्रतिज्ञाय मदात्मापि न क्लेशेभ्यो विमोचितः ।।४१।।

दसों दिशाओं में आकाश की सीमा तक के जगत् को क्लेशों से छुड़ाने की प्रतिज्ञा करके मैंने अपनी आत्मा को भी क्लेशों से नहीं छुड़ाया।

आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ब्रुवन्नुन्मत्तकस्तदा ।
अनिवर्ती भविष्यामि तस्मात् क्लेशबधे सदा ।।४२।।

तब अपनी इयत्ता बिना जाने मैं पागल-सा बोलता रहा । अब उसीलिए क्लेशों का बध करने में मैं पीछे लौटने वाला नहीं।

अत्र ग्रही भविष्यामि बद्धवैरश्च विग्रही ।
अन्यत्र तद्विधात्क्लेशात् क्लेशघातानुबन्धिनः ।।४३।।

यहां मुझे आग्रह होगा। क्लेश-ध्वंस के सहकारी इस प्रकार के क्लेश को छोड़ अन्यत्र मैं वैर बांधूंगा, लड़ूंगा।

गलन्त्वन्त्राणि मे कामं शिरः पततु नाम मे ।
नत्वेवावनतिं यामि सर्वथा क्लेशवैरिणां ।।४४।।

भले ही मेरी आंतें गल जाएं, मेरा माथा गिर पड़े, पर मैं क्लेश-वैरियों के आगे नहीं झुकूंगा।

निर्वासितस्यापि हि नाम शत्रोर्देशान्तरे स्थानपरिग्रहः स्यात् ।
यतः पुनः संभृतशक्तिरेति न क्लेशशत्रोर्गतिरीदृशी तु ।।४५।।

शत्रु निर्वासित हो कर भी दूसरे देश में जगह पा सकता है, जहां से कि शक्ति बटोर कर फिर आ सकता है। पर क्लेशशत्रु की ऐसी भी दशा नहीं है।

क्वासौ यायान्मन्मनस्तो निरस्तः स्थित्वा यस्मिन् मद्बधार्थं यतेत ।
नोद्योगो मे केवलं मन्दबुद्धेः क्लेशाः प्रज्ञादृष्टिसाध्या वराकाः ।।४६।।

मनसे निर्वासित उस (क्लेश) को जगह ही कहां है; जहां ठहर कर मेरे बध का यत्न करे। केवल कमी है मुझ मन्द बुद्धि के उद्योग की। बेचारे क्लेश तो सत्यदर्शन-हेय हैं।

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिता
नातोऽन्यत्र कुह स्थिताः पुनरिमे मथ्नन्ति कृत्स्नं जगत् ।
मायैवेयमतो विमुंच हृदय त्रासं भजस्वोद्यमं
प्रज्ञार्थं किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ।।४७।।

क्लेश न तो विषयों में हैं, न इन्द्रियसमूह में, और न (उन दोनों के) बीच में। न इन्हें छोड़ दूसरी ही किसी जगह हैं। फिर भी समूचे जगत् को मथे डालते हैं यह माया ही है। इसलिए हे हृदय! डर छोड़ प्रज्ञा के लिए उद्योग करो। बेकार ही क्यों अपने आप को नरकों में पीड़ित करते हो।

एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः ।
वैद्योपदेशाच्चलतः कुतोऽस्ति भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वं ।।४८।।

ऐसा निश्चय कर (शास्त्र में) जैसी शिक्षाओं का उपदेश है, उन पर चलने का यत्न करूंगा। क्योंकि औषध से अच्छा होने वाला रोगी यदि वैद्य का उपदेश न माने तो नीरोगता फिर कैसे ?

पंचम परिच्छेद

संप्रजन्य-रक्षा

शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रयत्नतः ।
न शिक्षा रक्षितुं शक्या चलं चित्तमरक्षता ॥१॥

शिक्षा-पालन के अभिलाषियों को यत्न से चित्त की रक्षा करनी चाहिए। चंचल चित्त की रक्षा के बिना शिक्षा-पालन संभव नहीं।

अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वन्तीह तां व्यथां।
करोति यामवीच्यादौ मुक्तश्चित्तमतङ्गजः ॥२॥

अशिक्षित मत्त हाथी यहां वह पीड़ा नहीं देते जो स्वच्छंद चित्तरूपी हाथी अवीचिनरक आदि में देता है।

बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतं ॥३॥

चारों ओर से यदि चित्त-हस्ती स्मृति-रज्जु से बांध लिया गया तो सब भय दूर हैं, सब कल्याण प्राप्त है।

व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा ॥४॥

सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति हि ॥५॥

बाघ, सिंह, हाथी, रीछ, सांप, सकल शत्रु, सर्व नरकपाल, डाकिनी तथा राक्षस, ये सब के सब एकमात्र चित्त के बंध जाने से बंध जाते हैं, एकमात्र चित्त का दमन करने से सब का दमन हो जाता है।

यस्माद् भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना ॥६॥

क्योंकि तत्त्ववादी (सुगत) ने यह कहा है कि सभी भय और अपरिमित दुःख चित्त से ही होते हैं।

शस्त्राणि केन नरके घटितानि प्रयत्नतः।
तप्तायःकुट्टिमं केन कुतो जाताश्च ताः स्त्रियः ॥७॥

नरक में यत्नपूर्वक किसने शस्त्र बनाए? तपे लोहे का कुट्टिम (फ़र्श) किसने बनाया? वे स्त्रियां कहां से हो गयीं?

पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत्सर्वं जगौ मुनिः।
तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानकः ॥८॥

मुनि ने कहा है कि वे सबके सब पापी-चित्त से उत्पन्न होते हैं। इसलिए त्रिलोकी में चित्त से भयानक दूसरा कोई नहीं है।

अदरिद्रं जगत्कृत्वा दानपारमिता यदि।
जगद्दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतायिनां ॥९॥

जगत् की दरिद्रता मिटाकर यदि दानपारमिता होती है तो अतीत के तथागतों के लिए वह कैसे संभव हुई, क्योंकि जगत् तो आज भी दरिद्र है।

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥१०॥

सब प्राणियों के लिए फलसहित सर्वस्व त्यागी चित्त से दानपारमिता (की पूर्णता) कही गई है, अतः वह चित्त ही है।

मत्स्यादयः क्व नीयन्तां मारयेयं यतो न तान्।
लब्धे विरतिचित्ते तु शीलपारमिता मता ॥११॥

मछली आदि कहां ले जाई जा सकती हैं कि उन्हें न मारा जाए। अतः (प्राणातिपात-) वेरमणी चित्त से शीलपारमिता मानी गयी है।

कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान्।
मारिते क्रोधचित्ते तु मारिताः सर्वशत्रवः ॥१२॥

आकाश के समान (अनन्त) कितने दुर्जनों को मार सकूंगा! यदि क्रोधी चित्त को मार डाला तो सब शत्रु मार लिए।

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ॥१३॥

सब धरती ढकने के लिए चमड़ा कहां से मिलेगा ? जूते के चमड़े भर से धरती ढक जाती है।

बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं न हि।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः ॥१४॥

उसी प्रकार बाहरी पदार्थ मेरे रोके नहीं रुक सकते। अपने चित्त को रोकूंगा। दूसरों के रुकने से मेरा क्या?

सहापि वाक्छरीराभ्यां मन्दवृत्तेर्न तत्फलं।
यत्पटोरेककस्यापि चित्तस्य ब्रह्मतादिकं ॥१५॥

काय और वाक् के साथ भी मन्दवृत्ति (चित्त) से वह फल नहीं होता, जो ब्रह्मता आदि (फल) एकाकी भी तीव्र (वृत्ति) चित्त से होता है।

जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि ।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥१६॥

सर्वज्ञ ने कहा है कि मन्द (वृत्ति) और अन्यमनस्कता से दीर्घकाल तक किए हुए भी जप-तप सब व्यर्थ हैं।

दुःखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे ।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितं ॥१७॥

जिन्होंने धर्म के सर्वस्व इस रहस्यमय चित्त को (तत्त्वज्ञान से) भावित न किया, वे बेकार ही आकाश के तले दुःख नाश करने और सुख पाने के लिए भटक रहे हैं।

तस्मात् स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितं ।
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ॥१८॥

अतः मुझे चित्त सुरक्षित और अपने वश में करना है। चित की रक्षा का व्रत छोड़ बहुत व्रतों से मेरा क्या ?

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात् ।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ॥१९॥

जिस प्रकार चंचल (लोगों) के बीच बैठा हुआ (पुरुष) सावधानी से अपने घाव की रक्षा करता है, उसी प्रकार दुर्जनों के बीच रहकर चित्तरूपी घाव की रक्षा करनी चाहिए।

व्रणदुःखलवाद् भीतो रक्षामि व्रणमादरात् ।
संघातपर्वताघाताद् भीतश्चित्तव्रणं न किं ॥२०॥

घाव के नाममात्र दुःख से डरकर घाव की सावधानी से रक्षा करता हूं। (फिर) संघात (नरक) के पर्वत के समान प्रहारों से डरकर चित्तरूपी घाव की रक्षा क्यों न करूंगा।

अनेन हि विहारेण विहरन् दुर्जनेष्वपि ।
प्रमदाजनमध्येऽपि यतिर्धीरो न खण्ड्यते ॥२१॥

दुर्जनों और स्त्रीजनों के बीच भी इसी (जागरूकता के) विहार से विहार करता हुआ यति (व्रत से) पतित नहीं होता।

लाभा नश्यन्तु मे कामं सत्कारः कायजीवितं ।
नश्यत्वन्यच्च कुशलं मा तु चित्तं कदा चन ॥२२॥

भले ही मेरे लाभ नष्ट हो जाएं, सत्कार, शरीर, जीवन तथा और जो कुछ शुभ है, नष्ट हो जाए, पर चित्त कभी नष्ट न हो।

चित्तं रक्षितुकामानां मयैष क्रियतेऽञ्जलिः ।
स्मृतिं च संप्रजन्यं च सर्वयत्नेन रक्षत ॥२३॥

चित्त की रक्षा के अभिलाषियों से मैं हाथ जोड़ (प्रार्थना) करता हूं कि स्मृति और संप्रजन्य (=जागरूकता) की पूर्ण यत्न से रक्षा करो।

व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न क्षमः सर्वकर्मसु।
तथाभ्यां व्याकुलं चित्तं न क्षमं सर्वकर्मसु ॥२४॥

जिस प्रकार व्याधिपीड़ित पुरुष किसी भी काम के योग्य नहीं होता, उसी प्रकार इन (स्मृति और संप्रजन्य) से रहित चित्त किसी भी काम के योग्य नहीं होता।

असंप्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावितं।
सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृतावतिष्ठते ॥२५॥

संप्रजन्य-चित्त-हीन (पुरुष) का श्रवण, मनन और निदिध्यासन फूटे घड़े के पानी की भांति स्मृति में नहीं ठहरता।

अनेके श्रुतवन्तोऽपि श्राद्धा यत्नपरा अपि।
असंप्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः ॥२६॥

अनेक वहुश्रुत, श्रद्धालु और यत्नशील (पुरुष) भी असंप्रजन्य दोष के कारण (व्रतभंग की) आपत्ति से कलुषित हो जाते हैं।

असंप्रजन्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा।
उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गतिं ॥२७॥

स्मृति ढीली हुई कि असंप्रजन्य–चोर पीछे पड़ा (और पुण्य की कमाई चुराई)। (इस प्रकार) जिनकी चोरी होती है वे पुण्य कमा कर भी दुर्गति पाते हैं।

क्लेशतस्करसंघोऽयमवतारगवेषकः।
प्राप्यावतारं मुष्णाति हन्ति सद्गतिजीवितं ॥२८॥

क्लेशरूपी चोरों का यह दल घुसने का मार्ग खोजता रहता है। घुसने का मार्ग पाकर चोरी करता है। सद्गति के जीवन की हत्या करता है।

तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान्नापनेया कदा चन।
गतापि प्रत्युपस्थाप्या संस्मृत्यापायिकीं व्यथां ॥२९॥

नरक की पीड़ा का स्मरण कर, स्मृति को मन के द्वार से कभी न हटाना चाहिए। गयी (स्मृति) को भी फिर वहीं टिकाना चाहिए।

उपाध्यायानुशासिन्या भीत्याप्यादरकारिणां।
धन्यानां गुरुसंवासात् सुकरं जायते स्मृतिः ॥३०॥

उपाध्याय के अनुशासन और भय तथा गुरुजनों के सत्संग से श्रद्धालु पुण्यात्माओं में सहज ही स्मृति बनी रहती है।

बुद्धाश्च बोधिसत्वाश्च सर्वत्राव्याहतेक्षणाः।
सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्मि पुरः स्थितः ॥३१॥

बुद्ध और बोधिसत्वों की दृष्टि सर्वत्र बेरोक-टोक पहुंचती है। सभी बुद्ध उनके समक्ष हैं। मैं उनके सामने खड़ा हूं।

इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वितः।
बुद्धानुस्मृतिरप्येवं भवेत्तस्य मुहुर्मुहुः ॥३२॥

ऐसा ध्यान कर लज्जा, गौरव, और भय के साथ उसी प्रकार (संयत) रहना चाहिए। इस प्रकार उसे बारंबार बुद्धानुस्मृति भी होती है।

संप्रजन्यं तदायाति न च यात्यागतं पुनः।
स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ॥३३॥

जब स्मृति मन के द्वार पर रक्षा के लिए खड़ी रहती है तब संप्रजन्य आता है और फिर नहीं जाता।

पूर्वं तावदिदं चित्तं सदोपस्थाप्यमीदृशं।
निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ॥३४॥

पहले इस चित्त को सदा इस प्रकार उपस्थित रखना चाहिए, (फिर) मुझ काठ की भांति इन्द्रियहीन हो रहना चाहिए।

निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्तव्याः कदा चन।
निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ॥३५॥

कभी भी बेकार दृष्टिविक्षेप न करना चाहिए। निरन्तर दृष्टि नीची और ध्यानरत जैसी रखनी चाहिए।

दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिशः पश्येत् कदा चन।
आभासमात्रं दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ॥३६॥

दृष्टिको विश्राम देने के लिए कभी-कभी दिशाओं की ओर देखना चाहिए। झलक मिलते ही (आगन्तुक के) स्वागत के लिए दृष्टि फिरानी चाहिए।

मार्गादौ भयबोधार्थं मुहुः पश्येच्चतुर्दिशं।
दिशो विश्रम्य वीक्षेत परावृत्यैव तिष्ठतः ॥३७॥

मार्ग आदि में भय (के कारण) के जानने के लिए चारों दिशाओं को देखना चाहिए। पीछे घूमकर अव्याकुल भाव से दिशाओं का अवलोकन करना चाहिए।

सरेदपसरेद्वापि पुरः पश्चान्निरूप्य च।
एवं सर्वास्ववस्थासु कार्यं बुद्ध्वा समाचरेत् ॥३८॥

आगे-पीछे का ध्यान करके आगे बढ़ना या पीछे लौटना चाहिए। इस प्रकार सब अवस्थाओं में समझ-बूझकर काम करना चाहिए।

कायेनैवमवस्थेयमित्याक्षिप्य क्रियां पुनः।
कथं कायः स्थित इति द्रष्टव्यं पुनरन्तरा ॥३९॥

[illegible]

भय, उत्साह आदि [illegible] जैसी मौज वैसे रह (क्योंकि जिसका ब्याह उसके गीत)। इसीलिए दान के समय शील की उपेक्षा की बात कही गयी है।

यद्बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततो ऽन्यन्न विचिन्तयेत्।
तदेव तावन्निष्पाद्यं तद्गतेनान्तरात्मना ॥४३॥

सोच समझकर जिसका करना आरंभ किया है, उसके अतिरिक्त और कुछ न सोचे। उसे ही पहले तन्मय मन से पूरा करे।

एवं हि सुकृतं सर्वमन्यथा नोभयं भवेत्।
असंप्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धिं चैवं गमिष्यति ॥४४॥

इस प्रकार सब ठीक बनता है। नहीं तो (आरब्ध और आरभ्यमाण) दोनों ही नहीं होते। असंप्रजन्य का क्लेश भी इस प्रकार बढ़ जाता है।

नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा।
कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागतं ॥४५॥

नाना प्रकार से चल रही नाना प्रकार की गल्प-सल्पों* तथा सभी कौतूहलों में यदि उत्सुकता उत्पन्न हो तो रोके।

मृन्मर्दनतृणच्छेदरेखाद्यफलमागतं।
स्मृत्वा ताथागतीं शिक्षां भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत् ॥४६॥

मिट्टी मसलना, तिनका तोड़ना, लकीरें खींचना आदि निरर्थक प्रवृत्तियों को तथागत की शिक्षा का स्मरण कर, डर कर, उसी क्षण छोड़ देना चाहिए।

---

*बंग भाषा से लिया वचन। चलती हिन्दी में 'गप-शप'।

बुद्ध और बोधिसत्त्वों की दृष्टि सर्वत्र बेरोक-टोक पहुंचती है। सभी कुछ उनके समक्ष है। मैं उनके सामने खड़ा हूं।

इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वितः।
बुद्धानुस्मृतिरप्येवं भवेत्तस्य मुहुर्मुहुः ॥३२॥

ऐसा ध्यान कर लज्जा, गौरव, और भय के साथ उसी प्रकार (संयत) ठहरना चाहिए। इस प्रकार उसे बारंबार बुद्धानुस्मृति भी होती है।

संप्रजन्यं तदायाति न च यात्यागतं पुनः।
स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ॥३३॥

जब स्मृति मन के द्वार पर रक्षा के लिए खड़ी रहती है तब संप्रजन्य आता है और फिर नहीं जाता।

पूर्वं तावदिदं चित्तं सदोपस्थाप्यमीदृशं।
निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ॥३४॥

पहले इस चित्त को सदा इस प्रकार उपस्थित रखना चाहिए, (फिर) मुझ काठ की भांति इन्द्रियहीन हो रहना चाहिए।

निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्तव्याः कदा चन।
निध्यायन्तीव सततं कार्या दृष्टिरधोगता ॥३५॥

कभी भी बेकार दृष्टिविक्षेप न करना चाहिए। निरन्तर दृष्टि नीची और ध्यानरत जैसी रखनी चाहिए।

दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिशः पश्येत् कदा चन।
आभासमात्रं दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ॥३६॥

दृष्टिको विश्राम देने के लिए कभी-कभी दिशाओं की ओर देखना चाहिए। झलक मिलते ही (आगन्तुक के) स्वागत के लिए दृष्टि फिरानी चाहिए।

मार्गादौ भयबोधार्थं मुहुः पश्येच्चतुर्दिशं।
दिशो विश्रम्य वीक्षेत परावृत्यैव तिष्ठतः ॥३७॥

मार्ग आदि में भय (के कारण) के जानने के लिए चारों दिशाओं को देखना चाहिए। पीछे घूमकर अव्याकुल भाव से दिशाओं का अवलोकन करना चाहिए।

सरेदपसरेद्वापि पुरः पश्चान्निरूप्य च।
एवं सर्वास्ववस्थासु कार्यं बुद्ध्वा समाचरेत् ॥३८॥

आगे-पीछे का ध्यान करके आगे बढ़ना या पीछे लौटना चाहिए। इस प्रकार सब अवस्थाओं में समझ-बूझकर काम करना चाहिए।

कायेनैवमवस्थेयमित्याक्षिप्य क्रियां पुनः।
कथं कायः स्थित इति द्रष्टव्यं पुनरन्तरा ॥३९॥

(काम करते) शरीर इस प्रकार रहना चाहिए, (अब) शरीर की स्थिति कैसी है--इन बातों को काम रोक कर बीच में फिर-फिर देख लेना चाहिए।

निरूप्यः सर्वयत्नेन चित्तमत्तद्विपस्तथा।
धर्मचिन्ता महास्तम्भे यथा बद्धो न मुच्यते ॥४०॥

चित्त के मतवाले हाथी का सब जतन से ध्यान रखना चाहिए कि धर्मचिन्ता के विशाल खंभे से बंधा रहे, छूट न सके।

कुत्र मे वर्तत इति प्रत्यवेक्ष्यं तथा मनः।
समाधानधुरं नैव क्षणमप्युत्सृजेद्यथा ॥४१॥

मेरा मन कहां है--यह यों देखते रहना चाहिए कि समाधि की धुरा को क्षण भर के लिए भी छोड़ न सके।

भयोत्सवादिसंबन्धे यद्यशक्तो यथासुखं।
दानकाले तु शीलस्य यस्मादुक्तमुपेक्षणं ॥४२॥

भय, उत्साह आदि होने पर यदि (समाधि) न सधे तो जैसी मौज वैसे रह (क्योंकि जिसका व्याह उसके गीत)। इसीलिए दान के समय शील की उपेक्षा की बात कही गयी है।

यद्बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततो ऽन्यन्न विचिन्तयेत्।
तदेव तावन्निष्पाद्यं तद्गतेनान्तरात्मना ॥४३॥

सोच समझकर जिसका करना आरंभ किया है, उसके अतिरिक्त और कुछ न सोचे। उसे ही पहले तन्मय मन से पूरा करे।

एवं हि सुकृतं सर्वमन्यथा नोभयं भवेत्।
असंप्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धिं चैवं गमिष्यति ॥४४॥

इस प्रकार सब ठीक बनता है। नहीं तो (आरब्ध और आरभ्यमाण) दोनों हो नहीं होते। असंप्रजन्य का क्लेश भी इस प्रकार बढ़ जाता है।

नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा।
कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागतं ॥४५॥

नाना प्रकार से चल रही नाना प्रकार की गल्प-सल्पों* तथा सभी कौतूहलों में यदि उत्सुकता उत्पन्न हो तो रोके।

मृन्मर्दनतृणोच्छेदरेखाद्यफलमागतं।
स्मृत्वा ताथागतीं शिक्षां भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत् ॥४६॥

मिट्टी मसलना, तिनका तोड़ना, लकीरें खींचना आदि निरर्थक प्रवृत्तियों को तथागत की शिक्षा का स्मरण कर, डर कर, उसी क्षण छोड़ देना चाहिए।

---

*बंग भाषा से लिया वचन। चलती हिन्दी में 'गप-शप'।

यदा चलितुकामः स्याद्वक्तुकामोऽपि वा भवेत्।
स्वचित्तं प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्याद्धैर्येण युक्तिमत् ॥४७॥

जब चलने या बोलने की इच्छा हो तो पहले अपने चित्त को संभाल कर धैर्य और ढंग के साथ बरते।

अनुनीतं प्रतिहतं यदा पश्येत्स्वकं मनः।
न कर्तव्यं न वक्तव्यं स्थातव्यं काष्ठवत् सदा ॥४८॥

जब अपना मन सराग और सद्वेष दीख पड़े, तब न कुछ करना चाहिए न बोलना। काठ की भांति सदा पड़े रहना चाहिए।

उद्धतं सोपहासं वा यदा मानमदान्वितं।
सोत्प्रासातिशयं वक्रं वंचकं च मनो भवेत् ॥४९॥

जब मन चंचल अथवा उपहासकारी, मानी, मदान्ध, सोत्प्रास (=हंसी ठट्ठे की भावना वाला), उत्कट, कुटिल और वंचक हो (तब काठ की भांति पड़े रहना चाहिए)।

यदात्मोत्कर्षणाभासं परपंसनमेव च।
साधिक्षेपं ससंरम्भं स्थातव्यं काष्ठवत्सदा ॥५०॥

जब (मन) अपनी प्रशंसा सोच रहा हो और दूसरे की निन्दा, गाली देना चाहता हो या झगड़ा करना चाहता हो, तब सदा काठ की भांति पड़े रहना चाहिए।

लाभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा पुनः।
उपस्थानार्थि मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥५१॥

मेरा चित्त लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी है, परिवार (=परिचारक) चाहता है और चाहता है सेवा, इसलिए मुझे काष्ठ की भांति पड़े रहना है।

परार्थरूक्षं स्वार्थार्थि परिषत्काममेव च।
वक्तुमिच्छति मे चित्तं तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥५२॥

मेरा चित्त परहितविमुख, स्वार्थपरायण, अथवा समाजसंग्रहाभिलाषी हो बोलना चाहता है, इसलिए मैं काठ की भांति पड़ा हूं।

असहिष्ण्वलसं भीतं प्रगल्भं मुखरं तथा।
स्वपक्षाभिनिविष्टं च तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ॥५३॥

(मेरा मन) असहनशील, आलसी, भीत, धृष्ट, बकवादी और पक्षपाती है, इसलिए मैं काठ की भांति पड़ा हूं।

एवं संक्लिष्टमालोक्य निष्फलारम्भि वा मनः।
निगृह्णीयाद् दृढं शूरः प्रतिपक्षेण तत् सदा ॥५४॥

(इस प्रकार) वीर पुरुष को चाहिए कि ऐसे क्लेशयुक्त, व्यर्थप्रवृत्ति वाले मन का सर्वदा (उसके) विरोधी (भाव) द्वारा निग्रह करे।

सुनिश्चितं सुप्रसन्नं धीरं सादरगौरवं ।
सलज्जं सभयं शान्तं पराराधनतत्परं ॥५५॥

सुनिश्चित, सुप्रसन्न, धीर, आदर एवं गौरव से युक्त, सलज्जा, सभय, शान्त, परहितोन्मुख,

परस्परविरुद्धाभिर्बालेच्छाभिरखेदितं ।
क्लेशोत्पादादिदं ह्येतदेषामिति दयान्वितं ॥५६॥

परस्पर विरुद्ध पृथग्जनाभिलाषाओं से अखिन्न, क्लेशों की उत्पत्ति के कारण इनमें यह ऐसा है (–यह सोचते हुए) कारुणिक,

आत्मसत्त्ववशं नित्यमनवद्येषु वस्तुषु ।
निर्माणमिव निर्मानं धारयाम्येव मानसं ॥५७॥

धर्म विषय में नित्य स्वाधीन तथा सत्त्वाधीन, निर्माण (=ऋद्धि-निर्मित) के समान मानरहित मन धारण करता हूं ।

चिरात्प्राप्तं क्षणवरं स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहुः ।
धारयामीदृशं चित्तमप्रकम्प्यं सुमेरुवत् ॥५८॥

चिरकाल के अनन्तर प्राप्त श्रेष्ठ क्षण का बारंबार स्मरण कर चित्त को ऐसे धारण करता हूं जैसे (वह) अडिग सुमेरु हो ।

गृध्रैरामिषसंगृद्धैः कृष्यमाण इतस्ततः ।
न करोत्यन्यथा कायः कस्मादत्र प्रतिक्रियां ॥५९॥

यहां (चित्त-हीन) शरीर (निकम्मा है), अन्यथा मांसलोभी गिद्धों से इधर-उधर खींचे जाने पर प्रतिकार क्यों न करता ?

रक्षसीमं मनः कस्मादात्मीकृत्य समुच्छ्रयं ।
त्वत्तश्चेत्पृथगेवायं तेनात्र तव को व्ययः ॥६०॥

हे मन ! अपना समझ, इस (हड्डी-मांस के) ढेर की क्यों रक्षा करते हो ? यदि यह तुमसे अलग ही है, तो इससे तुम्हारा क्या बिगड़ा ?

न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकं शुचिं ।
अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद्रक्षसि पूतिकं ॥६१॥

हे मूढ़ ! पवित्र कठपुतली को क्यों नहीं अपनाता ? अशुचि-घटित इस पूति-यंत्र की क्यों रक्षा करता है ?

इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक्कुरु ।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥६२॥

खाल के इस खोल को अपनी बुद्धि से अलग कर। प्रज्ञा-शस्त्र द्वारा मांस को हड्डियों के पिंजड़े से छुड़ा ।

अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ॥६३॥

हड्डियों को भी अलग कर भीतर मज्जा देख (और) अपने आप विचार कि इसमें सार क्या है ?

एवमन्विष्य यत्नेन न दृष्टं सारमत्र ते ।
अधुना वद कस्मात् त्वं कायमद्यापि रक्षसि ॥६४॥

इस प्रकार जतन से खोज करके भी तुझे सार न दीखा । अब बोल! तू अब भी क्यों शरीर की रक्षा करता है ?

न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितं ।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि ॥६५॥

तू अशुचि नहीं खाएगा। लोहू नहीं पिएगा। आंतें नहीं चूसेगा। शरीर से क्या करेगा ?

युक्तं गृध्रश्रृगालादेराहारार्थं तु रक्षितुं ।
कर्मोपकरणं त्वेतन्मानुषाणां शरीरकं ॥६६॥

कर्मों का साधन होने से इस मानव-शरीर की रक्षा करनी चाहिए (नहीं तो यह) गिद्ध-सियारों आदि के भोजन के लिए (ठीक) है ।

एवं ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दयः ।
कायं दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्वं किं करिष्यसि ॥६७॥

इस प्रकार रक्षा करते हुए भी (जब) निर्दयी मौत काया छीन कर गिद्धों को दे देगी तब तू क्या करेगा ।

न स्थास्यतीति भृत्याय न वस्त्रादि प्रदीयते ।
कायो यास्यति खादित्वा कस्मात्त्वं कुरुषे व्ययं ॥६८॥

न ठहरने वाले चाकर को कपड़े-लत्ते नहीं दिए जाते । तू क्यों खर्च करता है ? यह शरीर खा-पीकर चला जाने वाला (ही) है ।

दत्वास्मै वेतनं तस्मात् स्वार्थं कुरु मनोऽधुना ।
न हि वैतनिकोपात्तं सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥६९॥

हे मन! इस (शरीर) को मजूरी देकर अपना अर्थ साधो । मजूर की सारी कमाई उसे (ही) नहीं दे दी जाती ।

काये नौबुद्धिमाधाय गत्यागमननिश्रयात् ।
यथाकामंगमं कायं कुरु सत्त्वार्थसिद्धये ॥७०॥

काया को आने-जाने के सहारे के निमित्त नौका समझ, प्राणियों की अर्थसिद्धि के लिए काया को इच्छाधीन बरतने वाला बना ।

एवं वशीकृतस्वात्मा नित्यं स्मितमुखो भवेत् ।
त्यजेद् भृकुटिसंकोचं पूर्वभाषी जगत्सुहृत् ॥७१॥

इस प्रकार अपने आप को वश में कर सदा हंसमुख रहना चाहिए, भौंहें टेढ़ी न करनी चाहिए, पहले ही कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए, जगत् का मित्र होना चाहिए ।

सशब्दपातं सहसा न पीठादीन् विनिक्षिपेत् ।
नास्फालयेत् कवाटं च स्यान्निःशब्दरुचिः सदा ॥७२॥

पीढ़े आदि को इस तरह न रखे कि आवाज हो और किवाड़ न भड़भड़ाए । सदा चुपचाप रहना पसन्द करे ।

बको बिडालश्चौरश्च निःशब्दो निभृतश्चरन् ।
प्राप्नोत्यभिमतं कार्यमेवं नित्यं यतिश्चरेत् ॥७३॥

बक, बिड़ाल और चोर शान्त एवं निःशब्द रहकर इष्ट-सिद्धि करते हैं । यति को नित्य इसी प्रकार आचरण करना चाहिए ।

परचोदनदक्षाणामनधीष्टोपकारिणां ।
प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्यं सर्वशिष्यः सदा भवेत् ॥७४॥

उपदेश देने में परम कुशल, बिना प्रार्थना किए ही उपकाररत (जनों) के वचनों को सिरमाथे लेना चाहिए (तथा शिक्षा लेने की इच्छा से) सब का शिष्य रहना चाहिए ।

सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत् ।
पुण्यकारिणमालोक्य स्तुतिभिः संप्रहर्षयेत् ॥७५॥

सब सुभाषित (–प्रसंगों पर) साधुवाद देना चाहिए। पुण्यात्मा को देख स्तुतियों से प्रहर्षित करना चाहिए ।

परोक्षं च गुणान् ब्रूयादनुब्रूयाच्च तोषतः ।
स्ववर्णे भाष्यमाणे च भावयेत्तद्‌गुणज्ञतां ॥७६॥

पीठ-पीछे गुण-कीर्तन करना चाहिए। संतोष से (गुण) नुवाद करना चाहिए। अपनी प्रशंसा में दूसरे की गुणज्ञता की भावना करनी चाहिए ।

सर्वारम्भा हि तुष्ट्यर्थाः सा वित्तैरपि दुर्लभा ।
भोक्ष्ये तुष्टिसुखं तस्मात् परश्रमकृतैर्गुणैः ॥७७॥

सब कार्य संतोष के निमित्त किए जाते हैं। वह धन से दुर्लभ है । अतएव परकीय गुणों से संतोष-सुख भोगूंगा जहां अपने को परिश्रम नहीं करना है ।*

न चात्र मे व्ययः कश्चित् परत्र च महासुखं ।
अप्रीतिदुःखं द्वेषैस्तु महद्दुःखं परत्र च ॥७८॥

*अक्षरार्थ—अतएव दूसरे के श्रम से अर्जित गुणों से संतोष-सुख भोगूंगा ।

मेरा इसमें कुछ व्यय नहीं है और परलोक में महासुख है। द्वेष से (यहां) असंतोष-दुःख है और परलोक में महादुःख है।

विश्वस्तविन्यस्तपदं विस्पष्टार्थं मनोरमं।
श्रुतिसौख्यं कृपामूलं मृदुमन्दस्वरं वदेत् ॥७८॥

निर्भ्रान्त एवं व्यवस्थित पदयुक्त, निश्चितार्थक, मनोहर, श्रवणसुखद, कृपामूलक मृदु और मन्द स्वर से बोलना चाहिए।

ऋजु पश्येत्सदा सत्वांश्चक्षुषा संपिबन्निव।
एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्वं मे भविष्यति ॥८०॥

सहज भाव से, आंखों से जैसे पान किया जा रहा हो वैसे, प्राणियों को देखना चाहिए (और सोचना चाहिए कि) इन्हीं को (सेवा के) सहारे मुझे बुद्धत्वलाभ होगा।

सातत्याभिनिवेशोत्थं प्रतिपक्षोत्थमेव च।
गुणोपकारक्षेत्रे च दुःखिते च महच्छुभं ॥८१॥

सतत-अभिनिवेश†-जनित, प्रतिपक्ष††-समुत्पन्न, गुणक्षेत्र*, उपकारक्षेत्र** और दुःखित (-क्षेत्र) में (दान आदि से) महान् पुण्य होता है।

दक्ष उत्थानसंपन्नः स्वयंकारी सदा भवेत्।
नावकाशः प्रदातव्यः कस्य चित् सर्वकर्मसु ॥८२॥

सदा स्फूर्तिमान्, उद्योगपरायण हो स्वयं काम करना चाहिए। (अपने) सब कामों में किसी को (कुछ भी करने का) अवसर न देना चाहिए।

उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुतः ॥८३॥

दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छह पारमिताओं में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ हैं। इनमें आचार पुण्यरूपी जल का बांध है। उसे कभी न तोड़ना चाहिए। अन्यत्र जहां कई पारमिताओं के आचरण का अवसर हो, वहां संभव हो तो सब का आचरण करना चाहिए पर श्रेष्ठ पारमिता का उससे अवर पारमिता के लिए त्याग न करना चाहिए। ‡

एवं बुद्ध्वा परार्थेषु भवेत्सततमुत्थितः।
निषिद्धमप्यनुज्ञातं कृपालोरर्थदर्शिनः ॥८४॥

ऐसा समझ कर परोपकार में सदा उद्यत रहे। (सत्व-) हितदर्शी कृपालु के लिए अवैध की भी अनुमति है।

विनिपातगतानाथव्रतस्थान् संविभज्य च।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरबहिस्त्यजेत् ॥८५॥

---

†श्रद्धा, ††शून्यताभावना आदि, *बुद्ध-बोधिसत्व, ** माता-पिता आचार्य। ‡ यह भावार्थ है।

पतितों, अनाथों और सब्रह्मचारियों को (एक-एक) भाग देकर (बचे हुए चतुर्थ भाग को) मध्यम मात्रा में खाना चाहिए । तीन चीवरों से अधिक होने पर दान करना चाहिए ।

सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत् ।
एवमेव हि सत्त्वानामाशामाशु प्रपूरयेत् ॥८६॥

सद्धर्म के सेवक शरीर को छोटी-मोटी बातों के लिए न सताना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से ही वह प्राणियों की आशा को शीघ्र पूर्ण कर सकता है ।

त्यजेन्न जीवितं तस्मादशुद्धे करुणाशये ।
तुल्याशये तु तत्त्याज्यमित्थं न परिहीयते ॥८७॥

अशुद्ध * करुणाशय हो तो जीवन का उत्सर्ग न करना चाहिए । तुल्य† करुणाशय हो तो करना चाहिए । इस प्रकार बोधिसत्त्व का पतन नहीं होता ।

धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत् ।
सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके ॥८८॥

अश्रद्धालुओं को तथा पगड़ी बांधे, छाता-डंडा और शस्त्र लिए, एवं माथा ढके स्वस्थ पुरुषों को धर्मोपदेश न करना चाहिए ।

गंभीरोदारमल्पेषु न स्त्रीषु पुरुषं विना ।
हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु समं गौरवमाचरेत् ॥८९॥

हीनों को गंभीर और उदार (महायान धर्म की देशना) न करनी चाहिए, पुरुषरहित स्त्रीजनों को (धर्मदेशना न करनी चाहिए) । हीनयान और महायान धर्मों में समान गौरव रखना चाहिए ।

नोदारधर्मपात्रं च हीने धर्मे नियोजयेत् ।
न चाचारं परित्यज्य सूत्रमन्त्रैः प्रलोभयेत् ॥९०॥

महायान धर्म के योग्य को हीनयान में न लगाना चाहिए । आचरण को छोड़कर सूत्र और मंत्रों (के पाठ मात्र) से (पुण्यार्जन का) प्रलोभन न देना चाहिए ।

दन्तकाष्ठस्य खेटस्य विसर्जनमपावृतं ।
नेष्टं जले स्थले भोग्ये मूत्रादेश्चापि गर्हितं ॥९१॥

दतौन और थूक को खुला (=बिना ढके) न छोड़ना चाहिए और न भोग्य जल-स्थल में घृणित मूत्रादि करना चाहिए ।

मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननं ।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहू मर्दयेत् समं ॥९२॥

मुंह भरकर, मुंह फैलाकर, और आवाज निकाल कर न खाना चाहिए । पांव पसार कर न बैठना चाहिए । एक साथ दोनों बाहों को न मसलना चाहिए ।

---

*अशुद्ध=शुभचर्यामें विघ्नकर, † तुल्य=सम=सर्वसत्वहितकर ।

नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद्यानं शयनमासनं ।
लोकाप्रासादकं सर्वं दृष्ट्वा पृष्ट्वा च वर्जयेत् ।।९३।।

अकेली पराई स्त्री के साथ न बैठना चाहिए, न सोना चाहिए और न यात्रा करनी चाहिए। जो लोगों को बुरा लगता-दीखता हो वह सब (स्वयं) देख कर और पूछ कर (जानना चाहिए और उसे) छोड़ देना चाहिए।

नाङ्गुल्या कारयेत् किंचिद्दक्षिणेन तु सादरं।
समस्तेनैव हस्तेन मार्गमप्येमादिशत् ।।९४।।

आदर के साथ समूचे दाहिने हाथ से जो कुछ दिखाना हो दिखाना चाहिए, एक उंगली से नहीं। मार्ग भी इसी प्रकार बताना चाहिए।

न बाहूत्क्षेपकं कं चिच्छब्दयेदल्पसंभ्रमे।
अच्छटादि तु कर्तव्यमन्यथा स्यादसंवृतः ।।९५।।

थोड़ी सी घबराहट में भुजा उठा कर किसी को न पुकारे, पर ताली आदि बजाए। अन्यथा संवर-हीन माना जाएगा।

नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा।
संप्रजानंल्लघूत्थानः प्रागवश्यं नियोगतः ।।९६।।

परिनिर्वाण के समय भगवान् के शयन की भांति, अभीष्ट दिशा में, सावधान हो सोना चाहिए। शीघ्र उठ बैठना चाहिए कि किसी को कहना न पड़े।

आचारो बोधिसत्त्वानामप्रमेय उदाहृतः।
चित्तशोधनमाचारं नियतं तावदाचरेत् ।।९७।।

बोधिसत्वों के आचारों की संख्या नहीं है। पर जिस आचार से चित्तशुद्धि हो उसका अवश्य ही पालन करना चाहिए।

रात्रिंदिवं च त्रिस्कन्धं त्रिष्कालं च प्रवर्तयेत्।
शेषापत्तिशमस्तेन बोधिचित्तजिनाश्रयात् ।।९८।।

तीन बार रात और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध * की आवृत्ति करनी चाहिए। अनजान में हुई** आपत्तियों का शमन उससे तथा बुद्ध और बोधिचित्त के आश्रय से हो जाता है।

या अवस्थाः प्रपद्येत स्वयं परवशोऽपि वा।
तास्ववस्थासु याः शिक्षाः शिक्षेत्ता एव यत्नतः ।।९९।।

स्वाधीन या पराधीन जिन अवस्थाओं को प्राप्त हो, उन-उन अवस्थाओं में जो-जो शिक्षणीय हो, उसे यत्न से सीखना चाहिए।

न हि तद्विद्यते किं चिद्यन्न शिक्ष्यं जिनात्मजैः।
न तदस्ति न यत्पुण्यमेवं विहरतः सतः ।।१००।।

---

*तीन स्कंध--पापदेशना, पुण्यानुमोदना, बोधिपरिणामना। **शेष पद का भावार्थ।

बुद्धपुत्रों को जो न सीखना हो वह कुछ है ही नहीं। इस प्रकार विहार करते वह नहीं होता जो कि पुण्य नहीं है।

पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ॥१०१॥

साक्षात् अथवा परंपरया जो प्राणिहितार्थ न हो, उसे न करना चाहिए। प्राणिहितार्थ ही बोधि के लिए सब (पुण्यों) की परिणामना करनी चाहिए।

सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्।
बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदं ॥१०२॥

बोधिसत्त्वव्रती, महायानार्थकुशल कल्याणमित्र का कभी अपने जीवन के लिए भी त्याग न करना चाहिए।

श्रीसंभवविमोक्षाच्च शिक्षेद्यद्गुरुवर्तनं।
एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ज्ञेयं सूत्रान्तवाचनात् ॥१०३॥

जो गुरुवर्तन अर्थात् कल्याणमित्र--परिचर्या है उसे श्रीसंभवविमोक्षसूत्र से सीखना चाहिए। सूत्रान्तों का अध्ययन करके यह तथा अन्य दूसरी बातें, जिनकी देशना भगवान् ने की है, जाननी चाहिए।

शिक्षाः सूत्रेषु दृश्यन्ते तस्मात्सूत्राणि वाचयेत्।
आकाशगर्भसूत्रे च मूलापत्तीर्निरूपयेत् ॥१०४॥

शिक्षाएं सूत्रों में देखी जाती हैं, इसलिए सूत्रों को बांचना चाहिए। आकाशगर्भसूत्र से मूल आपत्तियों को जानना चाहिए।

शिक्षासमुच्चयो ऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः ॥१०५॥

शिक्षासमुच्चय अवश्य बारंबार देखना चाहिए, क्योंकि उसमें विस्तार के साथ सदाचार का वर्णन है।

संक्षेपेणाथ वा तावत्पश्येत्सूत्रसमुच्चयं।
आर्यनागार्जुनाबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः ॥१०६॥

अथवा संक्षेप से (देखना ही तो मेरे) सूत्र समुच्चय को या आचार्य नागार्जुन द्वारा संगृहीत दूसरे (सूत्र समुच्चय को) यत्न से देखना चाहिए।

यतो निवार्यते यत्र यदेव च नियुज्यते।
तल्लोकचित्तरक्षार्थं शिक्षां दृष्ट्वा समाचरेत् ॥१०७॥

जहां जिसका निषेध है, और जिसका विधान है, उसका शिक्षा देखकर लोकभावना की रक्षा के लिए आचरण करना चाहिए।

एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणं।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ॥१०८॥

संप्रजन्य का संक्षेप से यही लक्षण है कि शरीर और चित्त की अवस्था का बार-बार प्रत्यवेक्षण किया जाए।

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत्।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति ॥१०९॥

वाणी के पाठ से क्या होना है, शरीर से ही पढ़ूंगा। चिकित्सा (ग्रन्थों) के पाठमात्र से रोगी का भला क्या (भला) होगा!

षष्ठ परिच्छेद

क्षान्ति-पारमिता

सर्वमेतत्सुचरितं दानं सुगतपूजनं ।
कृतं कल्पसहस्त्रैर्यत् प्रतिघः प्रतिहन्ति तत् ॥१॥

सुचरित, दान और बुद्धपूजन-यह सब जो सहस्रों कल्पों तक किया गया है, उसे द्वेष नष्ट कर डालता है।

न च द्वेषसमं पापं न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः ॥२॥

द्वेष के समान पाप नहीं है और क्षमा के समान तप नहीं है। इसलिए विविध प्रकार के यत्नों से क्षमा-भावना करनी चाहिए।

मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥३॥

हृदय में द्वेष का कांटा चुभा होने से मन को न शान्ति मिलती है और न सुख का अनुभव हो पाता है, न नींद आती है और न धीरज रहता है।

पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगं ॥४॥

द्वेष-दुष्ट स्वामी को, जिनकी वह धन-मान से पूजा करता है और जो उसके आश्रित हैं, वे भी मार डालना चाहते हैं।

सुहृदो ऽप्युद्विजन्तेऽस्माद्ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति यत्किंचित्क्रोधनो येन सुस्थितः ॥५॥

मित्र भी इससे घबड़ाते हैं, (वह धन) देता है पर (कोई उसकी) सेवा नहीं करता। संक्षेप से, कुछ भी ऐसा नहीं जिससे क्रोधी विश्राम से रहे।

एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च ॥६॥

बैरी बनकर यह इस प्रकार के दुःख देता है। जो आग्रह से (इस) क्रोध को मारता है, वह यहां और परलोक में सुखी होता है।

अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात्।
दौर्मनस्याशनं प्राप्य द्वेषो दृप्तो निहन्ति मां ॥७॥

इष्टनाश और अनिष्ट किए जाने से (उत्पन्न) दौर्मनस्य (=मानसिक दुःख) का भोजन पा कर अभिमत्त हुआ द्वेष मुझे मारता है।

तस्माद्विघातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपोः।
यस्मान्न मद्वधादन्यत्कृत्यमस्यास्ति वैरिणः ॥८॥

इसलिए उस बैरी के भोजन का मैं नाश करूंगा, क्योंकि मेरी हत्या के अतिरिक्त इस बैरी को दूसरा काम ही नहीं है।

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया।
दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते ॥९॥

अत्यन्त अनिष्ट हो जाने पर भी मुझे मुदिता में क्षोभ नहीं करना चाहिए। (क्योंकि) दौर्मनस्य से भी इष्ट नहीं हो पाता प्रत्युत पुण्यहानि होती है।

यद्यस्त्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किं।
अथ नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किं ॥१०॥

यदि (अनिष्ट का) प्रतिकार है तो दौर्मनस्य से क्या? यदि प्रतिकार नहीं है तो दौर्मनस्य से क्या?

दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेत्यनीप्सितं।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात् ॥११॥

दुःख, रूक्षता, तिरस्कार, अपकीर्ति-ये अपने या अपने प्रियों को इष्ट नहीं होते, शत्रु को (ये हों) तो उलटे (इष्ट) होते हैं।

कथंचिल्लभ्यते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः।
दुःखेनैव च निःसारश्चेतस्तस्माद्दृढी भव ॥१२॥

जैसे-कैसे सुख मिल पाता है, दुःख बिना जतन के ही खड़ा रहता है। दुःख से ही निस्तार है। इसलिए हे चित्त! दृढ़ बने रहो।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनां।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तु कातरः ॥१३॥

चंडी के उपासक* और कर्णाटक (आदि दाक्षिणात्य)† दाह और छेद की पीड़ाओं को बेकार सहते हैं। मैं मुक्ति के लिए (दुःख सहने में फिर) क्यों कातर होऊं।

न किंचिदस्ति तद्वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करं।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा ॥१४॥

वह कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास से दुष्कर हो। इसलिए हलकी व्यथा (के सहने का) अभ्यास कर लेने से (बाद में) महाव्यथा भी सही जा सकती है।

---

*महानवमी (=आश्विन शुक्ल नवमी)—समय आदि में तीन रात या एक रात उपवास करके चंडी के उपासक अपने अंगों को दागते है या काटते हैं। †कर्णाटक देश आदि के दाक्षिणात्य ऊपर नाम लिखे जाने भर के मान के लिए परस्पर स्पर्धा करते हुए अनेक प्रकार की पीड़ाओं से दुःख भोगते-भोगते मर भी जाते हैं (प्रज्ञाकरमति)। इनका प्रचलन आजकल नामशेष हो चुका है।

उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदनां।
महत्कण्ड्वादिदुःखं च किमनर्थं न पश्यसि ॥१५॥

डसने वाले डांस और मच्छर तथा भूख-प्यास आदि की पीड़ा, खुजली आदि महादुःख के अनर्थ को (अभ्यासवश सहा जाता) देखते क्यों नहीं ?

शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनैः।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ॥१६॥

शीत, उष्ण, वर्षा, वायु, मार्ग, व्याधि, बंधन और ताड़न से (घबड़ा कर अपने को) सुकुमार न बनाना अन्यथा पीड़ा बढ़ती जाएगी।

के चित् स्वशोणितं दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषतः।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छां व्रजन्ति च ॥१७॥
तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागतं।
दुःखदुर्योधनस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यथां ॥१८॥

कितने ही अपना लोहू देख कर विशेष रूप से पराक्रम करते हैं, कितनों को दूसरे का लोहू देख कर भी मूर्छा आ जाती है। वह चित्त के दृढ़ तथा कातर होने से होता है, इसलिए दुःख-दुर्योधन होना चाहिए और पीड़ा को पराजित करना चाहिए।

दुःखेऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद्बुधः।
संग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा ॥१९॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि दुःख में भी चित्त को प्रसन्न रखे, विकार न आने दे। क्योंकि क्लेशों से युद्ध छिड़ा है और युद्ध में पीड़ा सुलभ होती है।

उरसारातिघातान्ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन्।
ते ते विजयिनः शूराः शेषास्तु मृतमारकाः ॥२०॥

छाती से शत्रुओं की चोटों को झेलते हुए जो-जो शत्रुओं को जीतते हैं वे-वे शूर और विजयी हैं। शेष तो मुर्दों के मारने वाले हैं।

गुणो ऽपरश्च दुःखस्य यत्संवेगान्मदच्युतिः।
संसारिषु च कारुण्यं पापाद् भीतिर्जिने स्पृहा ॥२१॥

दुःख का दूसरा यह गुण है कि उसके संवेग से अहंकार टूट जाता है, संसार के लोगों पर करुणा होती है, पाप से भय होता है (और) बुद्ध में भक्ति होती है।

पित्तादिषु न मे कोपो महादुःखकरेष्वपि।
सचेतनेषु किं कोपस्तेऽपि प्रत्ययकोपिताः ॥२२॥

महादुःखद पित्त आदि पर मुझे क्रोध नहीं आता फिर सचेतनों पर क्रोध क्यों ? वे भी तो (पित्त आदि) प्रत्ययों से कुपित होते हैं।

अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा।
अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा ॥२३॥

बिना चाहे ही (शरीर में) जैसे यह शूल उत्पन्न होता है, वैसे बिना चाहे ही (प्राणियों में) क्रोध उत्पन्न होता है।

कुप्यामीति न संचिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जनः।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च ॥२४॥

'क्रोध करूंगा' ऐसा सोच अपनी इच्छा से प्राणी क्रोध नहीं करता। 'उत्पन्न हूँगा' यह अभिप्राय रख कर क्रोध उत्पन्न नहीं होता।

ये के चिदपराधास्तु पापानि विविधानि च।
सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्रं तु न विद्यते ॥२५॥

जितने अपराध और विविध पाप होते हैं, सब अपने प्रत्यय-बल से होते हैं। स्वतंत्र नहीं ही होते।

न च प्रत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना।
न चापि जनितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना ॥२६॥

प्रत्यय-सामग्री को चेतना नहीं होती कि मैं उत्पन्न करती हूं और न उत्पन्न (कार्य) को चेतना होती है कि मैं उत्पन्न किया गया हूं।

यत्प्रधानं किलाभीष्टं यत्तदात्मेति कल्पितं।
तदेव हि भवामीति न संचिन्त्योपजायते ॥२७॥

जिनके मत में प्रधान * (एक स्वतंत्र पदार्थ) है (या) जिन्होंने आत्मा † की (एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में) कल्पना की है (वह प्रधान या आत्मा) 'वही मैं उत्पन्न होता हूं'-यह सोच कर उत्पन्न नहीं होता।

अनुत्पन्नं हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितुं तदा।
विषयव्यावृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते ॥२८॥

वह (आत्मा) अनुत्पन्न तो है नहीं, फिर होने की इच्छा किसे होगी? और (वह) यदि विषय-प्रवृत्त हो, तो निवृत्त भी न होगा।

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत्स्फुटमक्रियः।
प्रत्ययान्तरसंगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥२९॥

आत्मा नित्य है, (वैशेषिक मत में) अचेतन है, आकाशवत् स्पष्ट ही निष्क्रिय है। दूसरे प्रत्ययों के संग से भी निर्विकार में क्रिया कैसी?

यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृतं।
तस्य क्रियेति संबन्धे कतरत्तन्निबन्धनं ॥३०॥

क्रिया के समय जो (आत्मा) पूर्ववत् निष्क्रिय है, क्रिया से उसे करना ही क्या? 'उसकी क्रिया' इस संबन्ध (वाचक प्रयोग) में उसका (क्रिया से) कौन सा संबन्ध है?

---

*प्रधान=प्रकृति। सांख्यमत-संमत प्रकृति की ओर संकेत है।

†आत्मा=पुरुष। सांख्य-वैशेषिक संमत आत्मवाद की ओर संकेत है।

एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः ।
निर्माणवदचेष्टेषु भावेष्वेवं क्व कुप्यते ।।३१।।

इस प्रकार सब कुछ परतंत्र है, परतंत्रकारक भी (स्वहेतु–) परतंत्र है । एवं निर्मितों के समान चेष्टाहीन भावों पर कोप कहां ?

वारणापि न युक्तैवं कः किं वारयतीति चेत् ।
युक्ता प्रतीत्यता यस्माद्दुःखस्योपरतिर्मता ।।३२। ।

(प्रश्न) इस प्रकार यदि सब कुछ निर्मितों के समान माया है तो क्रोध आदि से निवारण करना ठीक नहीं । कारण कि निवारण करना तभी हो सकता है जब कोई वास्तविक पदार्थ हो। जब कुछ वास्तविक पदार्थ है ही नहीं तब निवारण करने वाला कौन ? जिसका निवारण किया जाता है वह क्या ? (उत्तर) मायामय पदार्थों में भी प्रतीत्य-समुत्पाद संबन्ध है। अतः निवारण करना ठीक है । दुःखनिरोध सब को इष्ट है अतः दुःख के कारण और उसके निरोध के उपाय का प्रतिपादन उचित ही है।*

तस्मादमित्रं मित्रं वा दृष्ट्वाप्यन्यायकारिणं ।
ईदृशाः प्रत्यया अस्येत्येवं मत्वा सुखी भवेत् ।।३३।।

अतः शत्रु-मित्र––या जिस किसी अन्यायकारी को देख, 'इसके ऐसे प्रत्यय हैं'–– ऐसा सोचकर नाराज नहीं होना चाहिए ।

यदि तु स्वच्छेया सिद्धिः सर्वेषामेव देहिनां ।
न भवेत् कस्य चिद् दुःखं न दुःखं कश्चिदिच्छति ।।३४।।

यदि अपनी इच्छा से सब देहधारियों की (मनोरथ–) सिद्धि हो जाती तो किसी को दुःख न होता। क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता ।

प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभिः ।
भक्तच्छेदादिभिः कोपाद् दुरापस्त्र्यादिलिप्सया ।।३५।।

प्रमाद से (लोग) अपने-आप कांटे चुभो लेते हैं। क्रोध अथवा अलभ्य स्त्री आदि की कामना से भोजन आदि का त्याग कर अपने आप को सताते हैं।

उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणैः ।
निघ्नन्ति केचिदात्मानमपुण्याचरणेन च ।।३६।।

फांसी लगा, पर्वत से गिर, विष और अपथ्य आदि खा, तथा पापाचरण कर कितने ही आत्मघात करते हैं।

यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रियं ।
तदैषां परकायेषु परिहारः कथं भवेत् ।।३७।।

जब इस प्रकार क्लेशों के वश में हो अपने प्रिय शरीर की हत्या कर डालते हैं, तब दूसरों के शरीर के प्रति (वैसा करने से) कैसे रुकेंगे।

*यह तात्पर्य है । अक्षरार्थ मूल से समझ लेना कठिन नहीं है।

क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेव प्रवृत्तेष्वात्मघातने ।
न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथं ।।३८।।

क्लेशों से उन्मत्त हो आत्मघात में लगे इन (प्राणियों) पर केवल दया न आए यह हो नहीं सकता। क्रोध उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ?

यदि स्वभावो बालानां परोपद्रवकारिता ।
तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके ।।३९।।

यदि अज्ञानियों का स्वभाव दूसरों से प्रति उपद्रव करने का है तो मुझे उन पर क्रोध करना उचित नहीं, क्योंकि आग जहां होगी वहां जलायेगी ही।

अथ दोषोऽयमागन्तुः सत्त्वाः प्रकृतिपेशलाः ।
तथाप्ययुक्तस्तत्कोपः कटुधूमे यथाम्बरे ।।४०।।

और यदि प्राणी स्वभाव के सरल है तथा यह दोष आगन्तुक है, तो भी क्रोध करना अनुचित है, क्योंकि कडुए धुएं में आकाश का हाथ ही क्या ?

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते ।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरं ।।४१।।

यदि (पीड़ा देने में) प्रधान दण्ड आदि को छोड़कर (उनके) प्रेरक पर क्रोध करता हूं, तो वह भी द्वेष से प्रेरित हुआ है, अतः मेरा द्वेष के प्रति क्रोध करना ठीक हो सकता है (द्वेषी के प्रति नहीं)।

मयापि पूर्वं सत्त्वानामीदृश्येव व्यथा कृता ।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत् सत्त्वोपद्रवकारिणः ।।४२।।

मैंने भी पहले प्राणियों को इसी प्रकार सताया है, इसलिए मुझ प्राणियों के उपद्रवकारी के प्रति यह ठीक ही है।

तच्छस्त्रं मम कायश्च द्वयं दुःखस्य कारणं ।
तेन शस्त्रं मया कायो गृहीतः कुत्र कुप्यते ।।४३।।

उस (अपकारी) का शस्त्र और मेरा शरीर दोनों दुःख के कारण हैं। उसने शस्त्र पकड़ा है और मैंने शरीर । फिर क्रोध कहां किया जाए ?

गण्डोऽयं प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासहः ।
तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथायां कुत्र कुप्यते ।।४४।।

प्रतिमारूपी, पीड़ासहिष्णु मैंने यह फोड़ा पाला है। उसके पीड़ित होने पर तृष्णान्ध हो मैं किस पर क्रोध करता हूं !

दुःखं नेच्छामि दुःखस्य हेतुमिच्छामि बालिशः ।
स्वापराधागते दुःखे कस्मादन्यत्र कुप्यते ।।४५।।

(मैं) मूढ़ दुःख नहीं चाहता, दुःख के हेतु (शरीर आदि) को चाहता हूं। (फलतः) अपने अपराध से जब दुःख आया है तब दूसरे पर क्रोध क्यों ?

असिपत्रवनं यद्वद् यथा नारकपक्षिणः ।
मत्कर्मजनिता एव तथेदं कुत्र कुप्यते ॥४६॥

जैसे असिपत्र-वन, जैसे नरक के पक्षी मेरे कर्म से ही उत्पन्न होते है, वैसे यह (संसारदुःख भी है) फिर कहां कोप करूं ?

मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यपकारिणः ।
येन यास्यन्ति नरकान्मयैवामो हता ननु ॥४७॥

मेरे कर्मों से प्रेरित होकर वे मेरे अपकारी हुए हैं, और इससे उन्हें ही नरक जाना पड़ेगा। इस प्रकार मानो मैंने ही उनको हत्या को है।

एतानाश्रित्य मे पापं क्षीयते क्षमतो बहु ।
मामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान् ॥४८॥

क्षमा करने से, मेरा बहुत-सा पाप इनके सहारे कटा जाता है पर मेरे सहारे ये चिर दुःखद नरकों में जा रहे हैं।

अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिणः ।
कस्माद्विपर्ययं कृत्वा खलचेतः प्रकुप्यसि ॥४९॥

(अतएव) मैं ही इनका अपकारी हूं, ये मेरे उपकारी हैं। हे दुष्ट चित्त! क्यों उलटे इन पर कोप करता है ?

भवेन्ममाशयगुणो न यामि नरकान्यदि ।
एषामत्र किमायातं यद्यात्मा रक्षितो मया ॥५०॥

यदि मैं नरक नहीं जाता तो वह मेरी अन्तरात्मा के गुण से है। यदि मैंने अपने आप को बचा लिया तो उससे इन (प्राणियों) का क्या आया-गया ?

अथ प्रत्यपकारी स्यां तथाप्येते न रक्षिताः ।
हीयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विनः ॥५१॥

यदि (मैं भी) उपकार के बदले अपकार करूं तो ये नहीं बचते और मेरी चर्या भी नष्ट होती है। इससे इन बेचारों का सत्यानाश ही है।

मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्यं केन चित् क्व चित् ।
शरीराभिनिवेशात्तु कायदुःखेन बाध्यते ॥५२॥

अमूर्त होने के कारण कहीं कोई मन को नहीं मार सकता। शरीर में आसक्त होने के कारण शरीर-दुःख से उसे पीड़ा होती है।

न्यक्कारः परुषं वाक्यमयशश्चेत्ययं गणः ।
कायं न बाधते तेन चेतः कस्मात्प्रकुप्यसि ॥५३॥

तिरस्कार, कठोर वचन और अपकीर्ति का यह समूह शरीर को पीड़ा नहीं देता, (फिर) हे चित्त क्यों क्रोध करते हो ?

मय्यप्रसादो योऽन्येषां स किं मां भक्षयिष्यति ।
इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मेऽनभीप्सितः ॥५४॥

मेरे प्रति दूसरों की जो अप्रसन्नता है, वह यहां या दूसरे जन्म में क्या मुझ खा जाएगी, जो अभीष्ट नहीं ।

लाभान्तरायकरित्वाद्यदसौ मेऽनभीप्सितः ।
नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवं ॥५५॥

लाभ में विघ्नकारक होने के कारण यदि मुझे वह अभीष्ट नहीं तो मेरे लाभों को तो यहीं नाश हो जाना है पर पाप को (जब तक भोग न हो जाए तब तक) निश्चित रूप से रहना है ।

वरमद्यैव मे मृत्युर्न मिथ्याजीवितं चिरं ।
तस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःखं तदेव मे ॥५६॥

आज ही मेरी मृत्यु का हो जाना श्रेष्ठ है, चिर तक मिथ्याजीवन (इष्ट) नहीं। क्योंकि चिर तक ठहर कर भी मुझे वही मृत्यु-दुःख भोगना है।

स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते ।
मुहूर्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते ॥५७॥

ननु निवर्तते सौख्यं द्वयोरपि विबुद्धयोः ।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः ॥५८॥

स्वप्न में जो सौ बरस सुख भोग कर जगता है और जो क्षण भर सुखी होकर जगता है, उन दोनों का सुख जग जाने पर नहीं रहता। चिरजीवी और अल्पजीवी की (भी) मृत्यु के समय वही उपमा है अर्थात् मृत्युदुःख दोनों के लिए समान है।

लब्ध्वापि च बहूंल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि ।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥५९॥

बहुत लाभ पाकर भी, चिर तक सुख भोग कर भी, मुझे लुट गया जैसा खाली हाथ और नंगा जाना होगा।

पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत् ।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥६०॥

लाभ से जीते हुए पापक्षय और पुण्यार्जन करता हूं (यदि यह सोचूं तो ठीक नहीं) क्योंकि लाभ के लिए क्रोध करते हुए (मैं वस्तुतः) पुण्यक्षय और पापार्जन करता हूं ।

यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति ।
किं तेन जीवितेनापि केवलाशुभकारिणा ॥६१॥

जिस (पुण्य) के लिए जीता हूं यदि उसी का नाश हो, तो कोरे अपुण्य कमाने वाले उस जीवन से क्या ?

अवर्णवादिनि द्वेषः सत्त्वान्* नाशयतीति चेत् ।
परायशस्करे ऽप्येवं कोपस्ते किं न जायते ।।६२।।

(स्व–) निन्दक के प्रति यदि द्वेष इसलिए है कि वह सत्त्वापकारी* है तो पर-निन्दक के प्रति भी तुझे क्रोध क्यों नहीं आता ?

परायत्ताप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा ।
क्लेशोत्पादपरायत्ते क्षमा नावर्णवादिनि ।।६३।।

उन क्रोधियों पर तेरी क्षमा है जिनका कि क्रोध दूसरों पर है पर (स्व–) निन्दक के प्रति क्षमा नहीं (यद्यपि) उसका भी (निन्दा–) क्लेश दूसरों (=हेतुप्रत्ययों) पर निर्भर है ।

प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च ।
न युज्यते मम क्रोधो बुद्धादीनां न हि व्यथा ।।६४।।

प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के नाशकों और निंदकों पर मुझे क्रोध करना उचित नहीं क्योंकि बुद्ध आदि को इससे व्यथा नहीं होती ।

गुरुसालोहितादीनां प्रियाणां चापकारिषु ।
पूर्ववत् प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा कोपं निवारयेत् ।।६५।।

पूर्ववत् (यह) देख (कि सब) हेतु-प्रत्ययवश होता है, गुरुओं, स्वजनों और प्रियों का अपकार करने वालों के प्रति क्रोध न करना चाहिए।

चेतनाचेतनकृता देहिनां नियता व्यथा ।
सा व्यथा चेतने दृष्टा क्षमस्वैनां व्यथामतः ।।६६।।

देहधारियों को चेतनों और अचेतनों से पीड़ा होने का नियम है। वह पीड़ा चेतन में होती दिखाई पड़ती है। इसलिए उस व्यथा को सहन करो।

मोहादेके ऽपराध्यन्ति कुप्यन्त्यन्येऽपि मोहिताः ।
ब्रूमः कमेषु निर्दोषं कं वा ब्रूमोऽपराधिनं ।।६७।।

मोह से कोई अपराध करते हैं और मोह से कोई क्रोध करते हैं। इनमें किसको निर्दोष कहूं और किसको अपराधी ?

कस्मादेवं कृतं पूर्वं येनैवं बाध्यसे परैः ।
सर्वे कर्मपरायत्ताः कोऽहमत्रान्यथाकृतौ ।।६८।।

---

*संधिवश इस पद के दो रूप हो सकते हैं–(१) सत्त्वान् (२) स त्वां । प्रथम रूप लेकर नाशयति पद से अन्वय कर भोटानुवाद है––सेम्स्-चन्-ञ.म्स् ब्येद्-प= सत्त्वापकारी । दूसरे रूप के नाशयति से अन्वित कर अर्थ होगा वह तेरा अपकारी या वह जो तेरा अपकार करता है। नाश से यहां अपकार ही अभिप्रेत है। प्रज्ञाकरमति ने दोनों पाठों को ठीक माना है।

पहले क्यों ऐसी करनी की जो इस प्रकार दूसरों से सताए जा रहे हो। सब कर्माधीन हैं। उसे उलटने वाला मैं कौन?

एवं बुद्ध्वा तु पुण्येव तथा यत्नं करोम्यहं।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ताः परस्परं॥६९॥

ऐसा समझ कर मुझे वैसा यत्न करना है कि सब परस्पर मैत्री-चित हो जाएं।

दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्वा गृहान्तरं।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते॥७०॥

एवं चित्तं यदासंगाद्दह्यते द्वेषवह्निना।
तत्क्षणं तत्परित्याज्यं पुण्यात्मोद्दाहशंकया॥७१॥

घर में आग लगने पर, दूसरे घर के तृण आदि में जहां आग लगने की संभावना होती है, जैसे उसे खींच कर अलग किया जाता है, वैसे जिसके संग से चित्त द्वेष की आग से जलने लगता हो, उसे उसी क्षण पुण्य-शरीर के जलने की शंका से छोड़ देना चाहिए।

मारणीयः करं छित्वा मुक्तश्चेत् किमभद्रकं।
मनुष्यदुःखैर्नरकान्मुक्तश्चेत् किमभद्रकं॥७२॥

बधार्ह को, यदि हाथ काट कर, मुक्त कर दिया जाए तो अमंगल क्या? लोगों के हाथों दुःख भोग यदि नरक से मुक्ति मिल जाए तो अमंगल क्या?

यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःखं सोढुं न पार्यते।
तन्नारकव्यथाहेतुः क्रोधः कस्मान्न वार्यते॥७३॥

यदि आज इतना भर भी दुःख नहीं सहा जाता तो नरक के दुःखों के मूल क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते?

कोपार्थमेवमेवाहं नरकेषु सहस्रशः।
कारितोऽस्मि न चात्मार्थः परार्थो वा कृतो मया॥७४॥

क्रोध के कारण ही मैं यों ही सहस्रों बार नरकों में बंदी रहा। पर मैंने न अपना ही स्वार्थ साधा न दूसरों का ही।

न चेदं तादृशं दुःखं महार्थं च करिष्यति।
जगद्दुःखहरे दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते॥७५॥

यह (क्षांति चर्या का) दुःख वैसा नहीं है और महार्थ (=बोधि) साधक है। ऐसे दुःख से प्रीति करना ठीक है जिससे संसार का दुःख दूर होता है।

यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यैः स्तुत्वा गुणोर्जितं।
मनस्त्वमपि तं स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि॥७६॥

यदि कितने ही (किसी के) गुणों की महिमा गाकर प्रेमानन्द में मग्न हैं, तो हे चित्त! तू भी उसकी स्तुति कर क्यों नहीं मगन होता?

इदं च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयं।
न वारितं च गुणिभिः परावर्जनमुत्तमं ॥७७॥

यह तेरा हर्ष-सुख अनिंद्य और सुखजनक है। गुणियों ने इसका निषेध नहीं किया है। (यह वह) उत्तम (साधन है कि जिससे) दूसरे नम्र होते हैं।

तस्यैव सुखमित्येवं तवेदं यदि न प्रियं।
भृतिदानादिविरते दृष्टादृष्टं हतं भवेत् ॥७८॥

"उसी को सुख है"--इसलिए यह तुझे भाता नहीं, तो (उसको ही सुख होगा--इस भय से जब तू) न वेतन देगा और न दान आदि करेगा (तब) तेरे दृष्ट और अदृष्ट (कैसे सुधरेंगे वे तो) बिगड़ (ही) जाएंगे।

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमवीच्छसि।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि ॥७९॥

अपनी कीर्ति होने पर चाहते हो कि दूसरे सुखी हों पर दूसरों के गुणकीर्तन होने पर अपने आप सुखी होना भी नहीं चाहते।

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया।
स्वयं लब्धसुखेष्वद्य कस्मात् सत्त्वेषु कुप्यसि ॥८०॥

सब प्राणियों के सुख की चाह से बोधिचित्त उत्पन्न कर, आज स्वयं सुखी हुए प्राणियों पर क्यों कुपित होते हो ?

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे ॥८१॥

प्राणियों के लिए त्रैलोक्यपूज्य बुद्धता की कामना करते हो, पर उनके नश्वर सत्कार को देख क्यों जलते हो ?

पुष्णाति यस्त्वया पोष्यं तुभ्यमेव ददाति सः।
कुटुम्बजीविनं लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि ॥८२॥

तुम्हें जिसे पोसना है, उसे जो पोस रहा हो, वह वस्तुतः तुम्हें दे रहा है। (ऐसा) कुटुम्ब-पोषक पाकर, प्रसन्न न हो नाराज हो रहे हो!

स किं नेच्छति सत्त्वानां यस्तेषां बोधिमिच्छति।
बोधिचित्तं कुतस्तस्य योऽन्यसंपदि कुप्यति ॥८३॥

जो बोधि चाहता है, वह प्राणियों का क्या नहीं चाहता ? जिसे दूसरे की संपत्ति पर कोप है, उसे बोधिचित्त कहां ?

यदि तेन न तल्लब्धं स्थितं दानपतेर्गृहे।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किं ॥८४॥

यदि उसे उस (धन) का लाभ न हुआ तो वह दानपति के घर रह जाएगा। सर्वथा वह तेरा नहीं है। (फिर) उसके दान या अदान में तेरा क्या ?

किं वारयतु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ।
लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि ॥८५॥

(लाभी) क्या पुण्यों का वारण करे या अपने निर्मल गुणों का निवारण करे या जो लाभ हो रहा हो उसे न ग्रहण करे ? बोल ! क्या करने से क्रोध न करेगा ?

न केवलं त्वमात्मानं कृतपापं न शोचसि।
कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः कर्तुमिच्छसि ॥८६॥

तू केवल अपने पापी-घट के लिए शोक तो करता नहीं प्रत्युत दूसरे पुण्यात्माओं के साथ स्पर्धा करना चाहता है।

जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्ट्या किं पुनर्भवेत्।
त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति ॥८७॥

यदि शत्रु का अनिष्ट हुआ तो तेरी तुष्टि-निमित्त क्या हुआ ? तू चाहे भर (और) अकारण (हो जाए, यह) होगा नहीं।

अथ त्वदिच्छया सिद्धं तद्दुःखे किं सुखं तव।
अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थः कोऽन्वतः परः ॥८८॥

और यदि तेरी इच्छा से (शत्रु का अनिष्ट) हो गया तो उसके दुःख से तुझे क्या सुख हुआ ? यदि तेरा मनोरथ यों (इतने भर से) था (तो अनर्थ ही हुआ क्योंकि) इससे बड़ा अनर्थ और होगा भी क्या ?

एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशकार्पितं।
यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥८९॥

यह भयंकर कंटिया (fish-hook) क्लेश-मछुए की लगाई हुई है, जिससे खरीद कर नरकपाल तुझे कुंभी-नरकों में पकाएंगे।

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय ते ॥९०॥

स्तुति, यश और सत्कार न पुण्य के लिए हैं, न आयु के लिए हैं, न बल के लिए हैं, न आरोग्य के लिए हैं और न मेरे शरीर-सुख के लिए हैं।

एतावांश्च भवेत्स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः।
मद्यद्यूतादि सेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता ॥९१॥

बुद्धिमान्, स्वार्थ के समझने वाले का (अधिक से अधिक) इतना ही स्वार्थ हो सकता है। (इससे अधिक अज्ञजनोचित) मानसिक सुखाभिलाषी को तो मद्य-द्यूत आदि का भी सेवन करना होगा।

यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि।
किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य तु तत्सुखं ॥९२॥

यश के लिए (लोग) धन लुटाते हैं और प्राणत्याग भी करते हैं। (स्तुतिके) अक्षरों को क्या खाया जाएगा ? मर जाने पर वह सुख किसे ?

यथा पांशुगृहे भिन्ने रोदित्यार्तरवं शिशुः ।
तथा स्तुतियशोहानौ स्वचित्तं प्रतिभाति मे ।।९३।।

मिट्टी का घरौंदा टूटने से जैसे बच्चा फूट-फूट कर रोता है, स्तुति और यश की हानि से मुझे मेरा चित्त भी वैसा ही लगता है।

शब्दस्तावदचित्तत्वात् स मां स्तौतीत्यसंभवः ।
परः किल मयि प्रीत इत्येतत् प्रीतिकारणं ।।९४।।

शब्द अचेतन है। उससे मेरी स्तुति हो नहीं सकती। किसी दूसरे (=चेतन) का मुझ से अवश्य प्रेम है। बस यही प्रीति (-वचनों) का मूल है ।

अन्यत्र मयि वा प्रीत्या किं हि मे परकीयया ।
तस्यैव तत्प्रीतिसुखं भागो नाल्पोऽपि मे मतः ।।९५।।

मुझ में या दूसरे में होने वाली पराई प्रीति से मेरा क्या ? उसी का ही वह प्रीति-सुख है। उसमें स्वल्प भी मेरा भाग नहीं ।

तत्सुखेन सुखित्वं चेत् सर्वत्रैव ममास्तु तत् ।
कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुखं ।।९६।।

यदि उस (पराये) के सुख से मुझे सुख होता है तो सर्वत्र वह (सुख) मेरा हो। फिर क्यों दूसरे की प्रसन्नता से सुखी लोगों में मुझे सुख नहीं मिलता ?

तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते ।
तत्राप्येवमसंबन्धात् केवलं शिशुचेष्टितं ।।९७।।

मेरी स्तुति की गयी है, इस बात से जो अपने को संतोष होता है उसका भी अपने से संबन्ध नहीं है, अतः वह कोरी बाल-कल्पना है ।

स्तुत्यादयश्च मे क्षेमं संवेगं नाशयन्त्यमी ।
गुणवत्सु च मात्सर्यं संपत्कोपं च कुर्वते ।।९८।।

स्तुति आदि मेरे कल्याण और संवेग का नाश करते हैं। गुणवानों में मत्सरता और पर-समृद्धि में द्वेष का कारण बनते हैं।

तस्मात्स्तुतिविघाताय मम ये प्रत्युपस्थिताः ।
अपायपातरक्षार्थं प्रवृत्ता ननु ते मम ।।९९।।

इसलिए जो मेरी स्तुति का विघात करने में उद्यत हैं वे मानो मुझे नरकपात से बचाने में प्रवृत्त हैं।

मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तं मे लाभसत्कारबन्धनं ।
ये मोचयन्ति मां बन्धाद् द्वेषस्तेषु कथं मम ।।१००।।

मुझ मुमुक्षु के लिए लाभ-सत्कार का बन्धन ठीक नहीं। जो मुझे उस बन्धन से छुड़ाते हैं उनसे मेरा द्वेष कैसे ?

दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागताः ।
बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कथं मम ॥१०१॥

दुःख (के द्वार में) प्रवेशाभिलाषी के लिए बुद्ध के वरदान से जो मानो कपाट बनकर आए हैं, उनसे मेरा द्वेष कैसे ?

पुण्यविघ्नः कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते ।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत्तदुपस्थितं ॥१०२॥

इसने पुण्य में विघ्न डाला है—इस कारण से (भी) इस पर क्रोध करना ठीक नहीं, क्योंकि क्षमा के समान तप नहीं हैं और यही उसका अवसर है।

अथाहमात्मद्वेषेण न करोमि क्षमामिह ।
मयैवात्र कृतो विघ्नः पुण्यहेतावुपस्थिते ॥१०३॥

यदि मैं अपने दोष से क्षमा नहीं करता, तो पुण्य का हेतु उपस्थित होने पर, मैंने ही यहां विघ्न डाला है।

यो हि येन विना नास्ति यस्मिंश्च सति विद्यते ।
स एव कारणं तस्य स कथं विघ्न उच्यते ॥१०४॥

जो जिसके बिना नहीं होता और जिसके होने से होता है, वह उसका कारण है, उसे विघ्न कैसे कहा जा सकता है ?

न हि कालोपपन्नेन दानविघ्नः कृतोऽर्थिना ।
न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रव्रज्याविघ्न उच्यते ॥१०५॥

समय पर आया याचक दान में विघ्न नहीं डालता। प्रव्राजक का आ पहुंचना प्रव्रज्या का विघ्न नहीं कहा जाता।

सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिणः ।
यतो मे ऽनपराधस्य न कश्चिदपराध्यति ॥१०६॥

संसार में याचक सुलभ हैं। अपकारी दुर्लभ हैं, क्योंकि मुझ निरपराध का कोई अपराध नहीं करता।

अश्रमोपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थितः ।
बोधिचर्यासहायत्वात् स्पृहणीयो मया रिपुः ॥१०७॥

इसलिए बिना-श्रम उपार्जित, घर में निधि के समान प्रादुर्भूत, बोधिचर्या में सहायक होने से मुझे शत्रु की स्पृहा करनी चाहिए।

मया चानेन चोपात्तं तस्मादेतत्क्षमाफलं ।
एतस्मै प्रथमं देयमेतत्पूर्वा क्षमा यत

इसलिए क्षमा का फल मेरा और इसका दोनों का कमाया हुआ है। क्योंकि क्षमा का यही पहला कारण है, अतः इसे पहले (क्षमा का फल) देना चाहिए।

क्षमासिद्ध्याशयो नास्ति तेन पूज्यो न चेदरिः।
सिद्धिहेतुरचित्तो ऽपि सद्धर्मः पूज्यते कथं ॥१०९॥

यदि इसके चित्त में क्षमासाधना नहीं है, इसलिए शत्रु की पूजा न करनी चाहिए, तो (बोलो!) सिद्धि के कारण भूत चित्त-हीन सद्धर्म की क्यों पूजा करते हो?

अपकाराशयो ऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते।
अन्यथा मे कथं क्षान्तिर्भिषजीव हितोद्यते ॥११०॥

इसके चित्त में अपकार है, यदि इस कारण शत्रु की पूजा न करूं, तो बिना एसा किए मुझ में क्षमा कैसे हो सकती है? (कारण कि क्षमा द्वेषी के प्रति द्वेष न करने ही से होती है।) हित में उद्यत वैद्य के जैसे (व्यक्ति के प्रति द्वेष कहां जो क्षमा होगी)!

तद्दुष्टाशयमेवातः प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा।
स एवातः क्षमाहेतुः पूज्यः सद्धर्मवन्मया ॥१११॥

वह दुष्टाशय है, अतएव उसके प्रत्यय से क्षमा उत्पन्न होती है। इससे वही क्षमा का हेतु है। उसकी सद्धर्म की भांति मुझे पूजा करनी चाहिए।

सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रमित्यतो मुनिनोदितं।
एतानाराध्य बहवः संपत्पारं यतो गताः ॥११२॥

इसीलिए भगवान् ने कहा है-(चर्या के) क्षेत्र सत्त्व हैं, (चर्या के) क्षेत्र बुद्ध हैं। क्योंकि इनकी आराधना करके बहुत लोगों को सर्वोत्तम संपदा मिली।

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे।
जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति कः क्रमः ॥११३॥

सत्त्वों तथा बुद्धों (की आराधना) से एक जैसे बुद्ध-गुणों की प्राप्ति होती है। फिर बुद्धों के प्रति जैसा गौरव वैसा सत्त्वों के प्रति नहीं, भला यह कौन-सी रीति है?

आशयस्य च माहात्म्यं न स्वतः किं तु कार्यतः।
समं च तेन माहात्म्यं सत्त्वानां तेन ते समाः ॥११४॥

चित्त का माहात्म्य अपने आप नहीं किंतु कार्य से होता है। (जो गुण बुद्धोंकी आराधना से होते हैं, वे ही सत्त्वों की आराधना से) अतः सत्त्व-महिमा (बुद्ध-महिमा के) समान है। फलतः वे (बुद्ध और सत्त्व) समान हैं।

मैत्र्याशयश्च यत्पूज्यः सत्त्वमाहात्म्यमेव तत्।
बुद्धप्रसादाद्यत्पुण्यं बुद्धमाहात्म्यमेव तत् ॥११५॥

(सत्त्वों के प्रति) मैत्री-चित्त (पुरुष) की जो पूजा होती है, वह सत्त्वों का ही माहात्म्य है। बुद्ध के प्रति श्रद्धा होने से जो पुण्य होता है, वह बुद्ध का ही माहात्म्य है।

बुद्धधर्मागमांशेन तस्मात्सत्त्वा जिनैः समाः ।
न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः ॥११६॥

इसलिए जहां तक बुद्ध-गुणों की प्राप्ति का संबन्ध है, सत्त्व बुद्ध जैसे हैं। पर (बुद्धों के वे) गुणसमुद्र, जिनके एक अंश का पार पाना कठिन है, (उनसे तुलना करने पर) कोई (सत्त्व) बुद्धों के समान नहीं।

गुणसारैकराशीनां गुणोऽणुरपि चेत्क्वचित् ।
दृश्यते तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमं ॥११७॥

गुणसर्वस्वता की अनन्य निधि (बुद्धों) के गुणों का अणु भी यदि कहीं दिखाई दे, तो उसकी पूजा के लिए त्रैलोक्य (का उपहार) भी पर्याप्त नहीं।

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते ।
एतदंशानुरूप्येण बुद्धपूजा कृता भवेत् ॥११८॥

सत्त्वों में (बुद्ध का वह) श्रेष्ठ अंश विद्यमान है, जिससे बुद्धगुणों का उदय होता है। इस अंश के योग्य सत्त्वपूजा होनी चाहिए।

किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणां ।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥११९॥

सत्त्वाराधन छोड़, निश्छल बन्धु और अपरिमित उपकारी (बुद्ध और बोधिसत्त्वों) के प्रति किए अपराधों की मार्जना* और क्या होगी ?

भिन्दन्ति देहं प्रविशन्त्यवीचीं येषां कृते तत्र कृते कृतं स्यात् ।
महापकारिष्वपि तेन सर्वं कल्याणमेवाचरणीयमेव ॥१२०॥

जिनके लिए (बुद्ध और बोधि सत्त्व) शरीर काट (दे) डालते हैं, अवीची-नरक तक में (जिनके उद्धार के लिए) घुसते हैं, उनका हित करने में ही हित है । इसलिए इन महापकारियों के प्रति भी सब प्रकार के कल्याण का ही आचरण करना चाहिए।

स्वयं मम स्वामिन एव तावद्यदर्थमात्मन्यपि निर्व्यपेक्षाः ।
अहं कथं स्वामिषु तेषु तेषु करोमि मानं न तु दासभावं ॥१२१॥

स्वयं मेरे प्रभु (तथागत) की ही जिनके लिए अपने शरीर तक को परवा नहीं है, उन स्वामियों (के लाड़लों) के प्रति मैं मान करता हूं—दास-भाव नहीं करता, यह क्यों ?

येषां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्रा येषां व्यथायां प्रविशन्ति मन्युं ।
तत्तोषणात्सर्वमुनीन्द्रतुष्टिस्तत्रापकारे ऽपकृतं मुनीनां ॥१२२॥

भगवान्† को जिनके सुख में सुख होता है, जिनकी पीड़ा में पीड़ा होती है, उनको

---

*निष्कृति=निष्क्रमण=अपराधमार्जना ।

†मुनीन्द्र और मुनि पद, जो मूल में बहुवचन में है, अनुवाद में एक वचन द्वारा अनूदित हुए हैं और एक ही शब्द 'भगवान्' द्वारा। वस्तुतः मुनि, मुनीन्द्र तथा भगवान् आदि तथागत के पर्याय हैं जिनमें भगवान् शब्द मुझे सर्वप्रिय है।

संतुष्ट करना ही भगवान् को संतुष्ट करना है तथा उनका अपकार करना ही भगवान् का अपकार है।

आदीप्तकायस्य यथा समन्तान् न सर्वकामैरपि सौमनस्यं।
सत्त्वव्यथायामपि तद्वदेव न प्रीत्युपायोऽस्ति दयामयानां॥१२३॥

चारों ओर से शरीर में आग लगने पर जैसे सब काम-भोगों से भी सुख नहीं होता वैसे प्राणियों को पीड़ा होने पर दयामय (बुद्धों) को किसी उपाय से भी सुख नहीं होता।

तस्मान्मया यज्जनदुःखदेन दुःखं कृतं सर्वमहाकृपाणां।
तदद्य पापं प्रतिदेशयामि यत्खेदितास्तन्मुनयः क्षमन्तां॥१२४॥

इसलिए मैंने जो प्राणियों को दुःख दे उन महाकृपालुओं को दुःखित किया है, उस पाप की आज देशना करता हूं। हे मुनियो ! मैंने जो सताया है, उसके लिए क्षमा करो।

आराधनायाद्य तथागतानां सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पदं जनौघा विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथः॥१२५॥

आज तथागतों की आराधना के लिए मैं सर्वात्मभाव से लोक-सेवक हो रहा हूं, लोग चाहे मेरा माथा कुचलें, चाहे मारें। लोकनाथ प्रसन्न हों।

आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र॥१२६॥

इसमें संदेह नहीं कि यह सब जगत् उन दयावन्तों का आत्मरूप है। प्राणियों के रूप में ये वही दिखाई पड़ रहे हैं, फिर इनके प्रति अनादर कैसा ?

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव॥१२७॥

यही तथागत की आराधना है, यही स्वार्थ की सम्यक् साधना है, यही लोक-दुःख का हरना है, इसलिए यही मेरा व्रत हो।

यथैको राजपुरुषः प्रमथ्नाति महाजनं।
विकर्तुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजनः॥१२८॥

यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजबलं बलं॥१२९ पूर्वार्ध॥

जैसे अकेला राजपुरुष बहुतों की गत बना डालता है पर वे दूर की बात सोच बिगड़ते तक नहीं, कारण कि वह सचमुच अकेला नहीं है, राजा का बल उसका बल है।

तथा न दुर्बलं कंचिदपराद्धं विमानयेत्॥१२९ उत्तरार्ध॥

यस्मान्नरकपालाश्च कृपावन्तश्च तद्बलं।
तस्मादाराधयेत्सत्त्वान भृत्यश्चण्डनृपं यथा॥१३०॥

वैसे यदि कोई दुर्बल भी अपराध कर बैठे तो उसका अपमान न करना चाहिए क्योंकि कृपावन्त (बुद्ध) और नरकपाल उसके बल हैं। अतः प्राणियों की आराधना उस प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार कि सेवक उग्र राजा की आराधना करता है।

कुपितः किं नृपः कुर्याद्येन स्यान्नरकव्यथा।
यत्सत्त्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥१३१॥

क्रोधित होकर राजा क्या यह भी कर सकता है जिससे कि नारकी व्यथा भोगनी पड़े जो प्राणियों को दुःख देने से भोगनी पड़ती है।

तुष्टः किं नृपतिर्दद्याद्यद्बुद्धत्वसमं वेत्।
यत्सत्त्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥१३२॥

संतुष्ट होकर राजा क्या दे सकता है, जिसकी तुलना बुद्धत्व के साथ हो, जो कि प्राणियों को सुख देने से मिलता है।

आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं सत्त्वाराधनसंभवं।
इहैव सौभाग्ययशःसौस्थित्यं किं न पश्यसि ॥१३३॥

भावी बुद्ध होने की बात छोड़ो। यहीं सत्त्वाराधन से होने वाले सौभाग्य, यश और सुखी जीवन को क्यों नहीं देखते।

प्रासादिकत्वमारोग्यं प्रामोद्यं चिरजीवितं।
चक्रवर्तिसुखं स्फीतं क्षमी प्राप्नोति संसरन् ॥१३४॥

संसार में आवागमन करते हुए क्षमाशील रूप, आरोग्य, आनन्द, दीर्घ आयु और चक्रवर्ती (नृप के समान) समृद्धि-सुख का भोग करता है।

सप्तम परिच्छेद

वीर्य-पारमिता

एवं क्षमो भजेद्वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता ।
न हि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विना गतिः ॥१॥

इस प्रकार क्षमाशील हो वीर्य का आचरण करना चाहिए क्योंकि बोधि वीर्य पर निर्भर है। वीर्य के बिना पुण्य नहीं होता जैसे कि वायु के बिना गति नहीं होती ।

किं वीर्यं कुशलोत्साहस्तद्विपक्षः क उच्यते ।
आलस्यं कुत्सितासक्तिविषादात्मावमन्यना ॥२॥

वीर्य क्या है ? पुण्याचरण का उत्साह । उसका विरोधी किसे (किसे) कहा जाता है ? आलस्य, कुविषयासक्ति, विषाद (=पस्त हिम्मती) और आत्मावज्ञा ।

अव्यापारसुखास्वादनिद्रापाश्रयतृष्णया ।
संसारदुःखानुद्वेगादालस्यमुपजायते ॥३॥

सांसारिक दुःखों से अवैराग्य के कारण निठल्लेपन में मजा आता है और नींद में पड़े रहने की चाह होती है, इसी से आलस्य होता है ।

क्लेशवागुरिकाघ्रातः प्रविष्टो जन्मवागुरां ।
किमद्यापि न जानासि मृत्योर्वदनमागतः ॥४॥

क्लेश-मछुओं के वश में जन्म-जाल में फंस कर (तू) मृत्यु के मुंह में आ पहुंचा है । क्या आज भी चेत नहीं ?

स्वयूथ्यान् मार्यमाणांस्त्वं क्रमेणैव न पश्यसि ।
तथापि निद्रां यास्येव चंडालमहिषो यथा ॥५॥

तू अपने संगी-साथियों को मारा जाता नहीं देखता ! (देखता है) फिर भी कसाई के भैंसे की भांति ऊंघ रहा है ।

यमेनोद्वीक्ष्यमाणस्य बद्धमार्गस्य सर्वतः ।
कथं ते रोचते भोक्तुं कथं निद्रा कथं रतिः ॥६॥

यम सब ओर से राह बन्द कर तेरी निगरानी कर रहा है फिर भी तुझे खाना कैसे अच्छा लगता है, सोना कैसे अच्छा लगता है, मौज करना कैसे अच्छा लगता है ?

यावत्संभृतसंभारं मरणं शीघ्रमेष्यति ।
संत्यज्यापि तदालस्यमकाले किं करिष्यसि ॥७॥

सब सामग्री से सजकर जब मृत्यु झटपट आएगी तब असमय में आलस्य छोड़ कर भी क्या करेगा ?

इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्धकृतस्थितं ।
अकस्मान्मृत्युरायातो [हा हतो ऽस्मीति चिन्तयन् ॥८॥
शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान् ।
बन्धून् निराशान् संपश्यन् यमदूतमुखानि च ॥९॥
स्वपापस्मृतिसंतप्तः शृण्वन् नादांश्च नारकान् ।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि ॥१०॥

यह नहीं मिला, इसका आरंभ किया, यह अधूरा रह गया, अकस्मात् मृत्यु आ गई, हा ! में नष्ट होगया--यों सोचता हुआ, शोक-वेग से सूजी, आंसूभरी, लाल-लाल आंखों वाले निराश बन्धुओं और यमदूतों के मुंह देखता हुआ, अपने पाप स्मरण कर संतप्त, नरक-वासियों का क्रंदन सुन भय से जब तेरे अंग मल-मूत्र में लत-पत हो जाएंगे, तू विह्वल हो जाएगा, तब क्या करेगा ?

जीवमत्स्य* इवास्मीति युक्तं भयमिहैव ते ।
किं पुनः कृतपापस्य तीव्रान्नरकदुःखतः ॥११॥

मैं 'जीओल माछ'* हूं। इसलिए यहां ही मुझे भय करना ठीक है। पाप कर नरक के तीव्र दुःख से (डरने की बात का) कहना क्या ?

स्पृष्ट उष्णोदकेनापि सुकुमार प्रतप्यसे ।
कृत्वा च नारकं कर्म किमेवं स्वस्थमास्यते ॥१२॥

हे सुकुमार ! यहां गरम पानी छू जाने से तुझे जलन होती है । नारकी करनी कर फिर क्यों इस प्रकार स्वस्थ बैठा है ?

निरुद्यमफलाकांक्षिन् सुकुमार बहुव्यथ ।
मृत्युग्रस्तो ऽमराकार हा दुःखित विहन्यसे ॥१३॥

बिना उद्यम फलाभिलाषी, सुकुमार, बहुपीड़ित, दुःखित, हाय ! अपने को अमर समझता हुआ तू मृत्यु से ग्रसा गया नष्ट हो रहा है ।

मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीं ।
मूढ कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः ॥१४॥

मनुष्य-जन्मरूपी नौका पाकर दुःखरूपी महानदी तरना। मूढ़ ! निद्रा का समय नहीं है। यह नौका फिर दुर्लभ है।

* 'जीओल माछ' (जीवमत्स्य) बंग देश में उन मछलियों को कहते हैं जो किसी नांद, कुंड या पल्वल में जीती ही सुरक्षित रखी जाती हैं और धीरे-धीरे निकाल कर खाई जाती रहती हैं। प्रज्ञाकरमति ने इस प्रथा को 'प्राग्दिङ्निवासी' जनों की प्रथा कहा है। यहां मैंने 'जीवनमत्स्य' का 'जीओल माछ' शब्द से अनुवाद किया है जो कि बंगदेश में व्यवहृत होता है।

मुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठामनन्तरतिसंततिं ।
रतिरौद्धत्यहासादौ दुःखहेतौ कथं तव ॥१५॥

श्रेष्ठ धर्मरति जो अनन्त रति की धारा है, छोड़, दुःख-मूल उछल-कूद और हा-हा, ही-ही में तेरी रति कैसे ?

अविषादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता ।
परात्मसमता चैव परात्मपरिवर्तनं ॥१६॥

अविषाद, बलव्यूह, तात्पर्य, आत्मविधेयता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्त्तन (से वीर्य-वृद्धि होती है) ।

नैवावसादः कर्तव्यः कुतो मे बोधिरित्यतः ।
यस्मात्तथागतः सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान् ॥१७॥

तेऽप्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा ।
यैरुत्साहवशात्प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ॥१८॥

किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितं ।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद्बोधिं किं नाप्नुयामहं ॥१९॥

मुझे बोधि कैसे मिलेगी (यदि मैं विषाद करूंगा)—यह सोच विषाद न करना चाहिए। क्योंकि सत्यवादी तथागत ने सच कहा है कि जिन्होंने वीर्याचरणवश बोधि-प्राप्ति की है वे भी (अपने अतीत जन्मों में) डांस, मच्छर, मक्खी और कीड़े रह चुके हैं। फिर मैं तो जन्म से मनुष्य हूं, हित और अहित जानने में समर्थ हूं। सर्वज्ञ की नीति का अपरित्याग करने से क्यों बोधि-लाभ न करूंगा।

अथापि हस्तपादादि दातव्यमिति मे भयं ।
गुरुलाघवमूढत्वं तन्मे स्यादविचारतः ॥२०॥

यदि मुझे भय होता हो कि (बोधि के निमित्त) हाथ-पैर आदि देने पड़ेंगे, तो वह अविवेक के कारण मेरा गौरवलाघव (=ऊंच-नीच) न समझने की मूढ़ता है।

छेत्तव्यश्चापि भेत्तव्यो दाह्यः पाट्योऽप्यनेकशः ।
कल्पकोटीरसंख्येया न च बोधिर्भविष्यति ॥२१॥

(संसार-कारागार में) अनेक बार असंख्य कल्पकोटियों तक (मैं) छेदा जाऊंगा, भेदा जाऊंगा, जलाया जाऊंगा और काटा जाऊंगा, पर बोधि-लाभ न होगा।

इदं तु मे परिमितं दुःखं संबोधिसाधनं ।
नष्टशल्यव्यथापोहे तदुत्पाटनदुःखवत् ॥२२॥

यह मेरा बोधि-साधना का दुःख, (अंग के भीतर) टूटे हुए कांटे की पीड़ा को दूर करने के लिए, उस (कांटे) के निकालने के दुःख के समान परिमित है।

सर्वेऽपि वैद्याः कुर्वन्ति क्रियादुःखैररोगतां ।
तस्माद् बहूनि दुःखानि हन्तुं सोढव्यमल्पकं ॥२३॥

सभी वैद्य जिन क्रियाओं से नीरोग करते है, उनमें दुःख होता है। इसलिए बहुत दुःख दूर करने के लिए थोड़ा दुःख सहना ही होगा।

क्रियामिमामप्युचितां वरवैद्यो न दत्तवान्।
मधुरेणोपचारेण चिकित्सति महातुरान् ॥२४॥

श्रेष्ठ वैद्य यह आवश्यक क्रिया नहीं (करने) देता। (वह) मधुर उपचार से चिकित्सा करता है।

अदौ शाकादिदानेऽपि नियोजयति नायकः।
तत् करोति क्रमात् पश्चाद् यत् स्वमांसान्यपि त्यजेत् ॥२५॥

आदि में बुद्ध शाक आदि का दान करने में लगाते हैं। फिर धीरे-धीरे ऐसा करते हैं कि (आदमी) अपना मांस तक दे सकता है।

यदा शाकेष्विव प्रज्ञा स्वमांसे ऽप्युप जायते।
मांसास्थि त्यजतस्तस्य तदा किं नाम दुष्करं ॥२६॥

जब अपने मांस में भी शाक-बुद्धि हो जाती है, तब मांस-हड्डी का त्याग करना क्या दुष्कर ?

न दुःखी त्यक्तपापत्वात् पांडितत्वान्न दुर्मनाः।
मिथ्याकल्पनया चित्ते पापत् काये यतो व्यथा ॥२७॥

निष्पाप होने के कारण (शरीर से) दुःखी नहीं होता और पंडित होने के कारण मन से दुःखी नहीं होता, क्योंकि शरीर में पाप से और मन में मिथ्या कल्पना से पीड़ा होती है।

पुण्येन कायः सुखितः पांडित्येन मनः सुखि।
तिष्टन् परार्थं संसारे कृपालुः केन खिद्यते ॥२८॥

पुण्य से शरीर सुखी रहता है, पांडित्य से मन सुखी रहता है। परोपकार के लिए संसार में रहते हुए कृपालु को किससे खेद हो सकता है।

क्षपयन् पूर्वपापानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान्।
बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रगः ॥२९॥

अतीत के पापों को क्षीण करता हुआ, पुण्य-समुद्रों का संग्रह करता हुआ (बोधिसत्व) बोधिचित्त के बल से ही श्रावकों (=हीनयानियों) की अपेक्षा भी शीघ्र (मुक्त हो) जाता है।

एवं सुखात् सुखं गच्छन् को विषीदेत् सचेतनः।
बोधिचित्तरथं प्राप्य सर्वखेदश्रमावहं ॥३०॥

इस प्रकार सब खेद और थकावट के दूर करने वाले बोधिचित्तरूपी रथ को पाकर, सुख के बाद सुख पाता हुआ कौन सचेतन विषाद करेगा ?

छन्द-स्थान-रति-मुक्तिबलं सत्त्वार्थसिद्धये ।
छन्दं दुःखभयात् कुर्यादनुशंसांश्च भावयन् ॥३१॥

सर्वप्राणि-हित के निमित्त (चतुरंगिणी) सेना (चाहिए। जिसके चार अंग ये हैं–) छन्द=पुण्याभिलाष, स्थाम=अविचलितभाव, रति=सत्कर्मपरायणता और मुक्ति= विलंब (Postponement)। दुःख के भय से पुण्यमाहात्म्य की भावना करते हुए छन्द करना चाहिए ।

एवं विपक्षमुन्मूल्य यतेतोत्साहवृद्धये ।
छन्दमानरतित्यागतात्पर्यवशिताबलैः ॥३२॥

इस प्रकार विपक्ष अर्थात् आलस्य आदि का नाश कर उत्साह की वृद्धि करनी चाहिए (जिसके साधन ये हैं–) छन्द-बल (=शक्ति), मान-बल, रति-बल, त्याग-बल, तात्पर्य (=तत्परता)- बल और वशिता (=आत्मविधेयता)–बल ।

[इस कारिका में उक्त विषयों का अगली कारिकाओं में प्रतिपादन है–छन्द ३३–४६ पूर्वार्ध; मान=स्थाम=अविचलितभाव=दृढ़चित्तता ४६ उत्तरार्ध –६१; रति ६२–६५; त्याग=मुक्ति=बिलंब=Postponement ६६; तात्पर्य=तत्परता ६७–७३; वशिता=आत्मविधेयता ७४–७५ ।]

अप्रमेया मया दोषा हन्तव्याः स्वपरात्मनोः ।
एकैकस्यापि दोषस्य यत्र कल्पार्णवैः* क्षयः ॥३३॥

अपने-पराये अपरिमित दोषों का मुझे नाश करना है । और एक-एक दोष के नाश में अनन्त कल्प लगते हैं ।

तत्र दोषक्षयारम्भे लेशोऽपि मम नेक्ष्यते ।
अप्रमेयव्यथाभाज्ये नोरः स्फुटति में कथं ॥३४॥

उन दोषों के नाश करने में मेरा लेशमात्र भी उत्साह नहीं दीखता। अपार दुःख सहते मेरी छाती क्यों नहीं फटती ?

गुणा मयार्जनीयाश्च बहवः स्वपरात्मनोः ।
तत्रैकैकगुणाभ्यासो भवेत्कल्पर्णवैर्न वा ॥३५॥

अपने-पराय के लिए मुझे अपार गुण उपार्जित करने हैं। और एक-एक गुण का अभ्यास अनन्त कल्पों में हो भी पाता है और नहीं भी।

गुणलेशेऽपि नाभ्यासो मम जातः कदा चन ।
वृथा नीतं मया जन्म कथं चिल्लब्धमद्भुतं ॥३६॥

गुण के लेश का भी मैंने कभी अभ्यास नहीं किया। बड़ी कठिनाई से यह अद्भुत जन्म मिला और अकारथ गया।

*अक्षरार्थ "समुद्रोपमकल्प" ।

न प्राप्तं भगवत्पूजामहोत्सवसुखं मया ।
न कृता शासने कारा दरिद्राशा न पूरिता ।।३७।।

न भगवान् की पूजा के महोत्सव का सुख मुझे मिला। न मैंने धर्म का सत्कार किया। न दरिद्रों का मनोरथ सफल किया।

भीतेभ्यो नाभयं दत्तमार्ता न सुखिनः कृताः ।
दुःखाय केवलं मातुर्गतोऽस्मि गर्भशल्यतां ।।३८।।

न भीतों को अभय दिया। न दुःखियों को सुखी किया । केवल मा को दुःख देने के लिए ही मैं गर्भरूपी कांटा बना।

धर्मच्छन्दवियोगेन पौर्विकेण मयाधुना ।
विपत्तरीदृशी जाता को धर्मछन्दमुत्सृजेत् ।।३९।।

पहले मुझे धर्म-छंद न था, इसलिए आज यह विपत्ति ऊपर आ पड़ी : (अब फ़िर) कौन धर्म-छन्द छोड़े ?

कुशलानां च सर्वेषां छन्दं मूलं मुनिर्जगौ ।
तस्यापि मूलं सततं विपाकफलभावना ।।४०।।

मुनि ने छन्द को सब पुण्यों का मूल कहा है। निरन्तर विपाकफल (= कर्मफल) की भावना को उस (छन्द) का भी मूल बताया है ।

दुःखानि दौर्मनस्यानि भयानि विविधानि च ।
अभिलाषविघाताश्च जायन्ते पापकारिणां ।४७।।

पापियों को(कायिक)–दुःख, मानसिक-दुःख, विविध भय और मनोरथ–विफलताएं होती हैं ।

मनोरथः शुभकृतां यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः फलार्घेणाभिपूज्यते ।।४२।।

जहां-जहां पुण्यवान् जाता है, उसका मनोरथ, उसके पुण्य के कारण, सफलता के अर्घ से पूजित होता है।

पापकारिसुखेच्छातु यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पापैर्दुःखशस्त्रैर्विहन्यते ।।४३।।

जहां-जहां पापी जाता है, उसका सुख-मनोरथ, उसके पापों के कारण, दुःख-शस्त्रों से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

विपुलसुगन्धिशीतलसरोरुहगर्भगता
मधुरजिनस्वराशनकृतोपचितद्युतयः ।
मुनिकरबोधिताम्बुजविनिर्गतसद्वपुषः
सुगतसुता भवन्ति सुगतस्य पुरः कुशलैः ।।४४।।

पुण्यों से (जीव) अत्यंत सुगंधित कमलों के गर्भ में पहुंचते हैं, वहां मीठे बुद्ध-

वचनों के आहार से उनके (शरीर की) द्युति बढ़ती है, बुद्ध-किरणों से जब वे कमल खिलते हैं तब वे अपने शोभायमान शरीर के साथ निकलते हैं, (इस प्रकार सुखावती में) भगवान् (अमिताभ) के सामने उनके पुत्र बन कर रहते हैं।

यमपुरुषापनीतसकलच्छवि*रार्तरवो
हुतवहतापविद्रुतकताम्रनिषिक्ततनुः ।
ज्वलदसिशक्तिघातशतशातितमांसदलः
पतति सुतप्तलोहधरणीष्वशुभैर्बहु शः ।।४५।।

बारंबार पापों के कारण यमदूत (जीव की) खाल* खींचते है, वह दुःख से चिल्लाता है, (फिर वे) उसके शरीर को आग में पिघले तांबे से नहलाते हैं, तपाई हुई बरछियों और तलवारों के शत-शत प्रहारों से उसका मांस टूक-टूक करते हैं, (ऐसी दशा में वह) अत्यन्त तपी धरती पर गिरता है।

तस्मात् कार्यः शुभच्छंदो भावयित्वैवमादरात् ।। ४६ पूर्वार्ध ।।

अतः आदर के साथ इस प्रकार भावना करके पुण्य-छन्द करना उचित है।

वज्रध्वजस्य विधिना मानं त्वारभ्य भावयेत् ।।४६ उत्तरार्ध।।

वज्रध्वज-सूत्र में कही विधि के अनुसार समारंभ-पूर्वक मान की भावना करनी चाहिए।

पूर्वं निरूप्य सामग्रीमारभेन्नारभेत वा ।
अनारम्भो वरं नाम न त्वारभ्य निवर्तनं ।।४७।।

(कार्य का) आरंभ करने या न करने में (साधन-) सामग्री का विचार पहले करना चाहिए**। आरंभ न करना अच्छा है, पर आरंभ करके छोड़ना नहीं।

जन्मान्तरेऽपि सोऽभ्यासः पापाद् दुःखं च वर्धते ।
अन्यच्च कार्यकालं च हीनं तच्च न सधितं ।।४८।।

(१) दूसरे जन्म तक वही (प्रतिज्ञा-भंग का) अभ्यास बना रहता है और (२) (इस) पाप से दुःख बढ़ता है। (३) वह (आरब्ध कार्य) तो पुरा नहीं होता, (४) उतना समय भी जाता है तथा (५) कोई और काम भी नहीं होता। (इस प्रकार आरंभ करके छोड़ने में पांच दोष होते हैं)।

त्रिषु मानो विधातव्यः कर्मोपक्लेशशक्तिषु ।
मयैवैकेन कर्तव्यमित्येषा कर्ममानिता ।।४९।।

कर्म, उपक्लेश (=रागादि दोष) और शक्ति इन तीन विषयों में मान करना चाहिए। अकेले मुझे ही करना है—इसे कर्ममान कहते हैं।

---

*छवि = खाल; शोभा। यहां प्रथम अर्थ प्रसंगोचित है यद्यपि दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है।

**अक्षरार्थ—पहले सामग्री का विचार कर आरंभ करना चाहिए या न करना चाहिए।

क्लेशस्वतन्त्रो† लोकोऽयं न क्षमः स्वार्थसाधने ।
तस्मान्मयैषां कर्तव्यं नाशक्तोऽहं यथा जनः ।।५०।।

लोग क्लेश के वश में† हैं, अपना स्वार्थ नहीं साध पाते। इसलिए मुझे इनका (मनोरथ सफल) करना है। इन लोगों जैसा मैं असमर्थ नहीं।

नीचं कर्म*करोत्यन्यः कथं मय्यपि तिष्ठति ।
मानाच्चेन्न करोम्येतन्मानो नश्यतु मे वरं ।।५१।।

मेरे होते हुए भी दूसरा पसीना बहाता है*। यदि मानवश मैं यह नहीं करता तो मेरे मान का नष्ट हो जाना अच्छा है।

मृतं डुण्डुभमासाद्य काकोऽपि गरुडायते ।
आपदाबाधतेऽल्पापि मनो मे यदि दुर्बलं ।।५२।।

पनिहा सांप पाकर कौआ भी गरुड़ बन जाता है। अपना मन कच्चा होने पर छोटी-मोटी आपत्ति भी आ दबोचती है।

विषादकृतनिश्चेष्ट आपदः सुकरा ननु ।
व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु महतामपि दुर्जयः ।।५३।।

माथे पर हाथ रखकर बैठे निकम्मे पर सहज ही आपत्तियां आती रहती हैं। हिम्मती और हाथ-पैर चलाने वाले को बड़े-बड़े नहीं जीत पाते।

तस्माद् दृढेन चित्तेन करोम्यापदमापदः ।
त्रैलोक्यविजिगीषुत्वं हास्यमापज्जितस्य मे ।।५४।।

इसलिए दृढ़ चित्त से (मैं) आपत्ति पर आपत्ति ढहाऊंगा। आपत्ति से पराजित हो गया तो मेरी त्रैलोक्य-विजय की महत्त्वाकांक्षा का उपहास होगा।

मया हि सर्वं जेतव्यमहं जेयो न केन चित् ।
मयैष मानो वोढव्यो जिनसिंहसुतो ह्यहं ।।५५।।

मुझे सब पर विजय पाना है। मुझे कोई नहीं जीत सकता। यह मान मुझे ही रखना है। मैं जिनसिंह का पुत्र हूं।

ये सत्वा मानविजिता वराकास्ते न मानिनः ।
मानी शत्रुवशं नैति मानशत्रुवशाश्च ते ।।५६।।

जो प्राणी मान से पराजित हो जाते हैं, वे मानी नहीं, दीन हैं। मानी शत्रु के वश में नहीं जाता। वे मानरूपी शत्रु के वश में हैं।

---

†पाठान्तर—'क्लेश-अस्वतन्त्र' = क्लेशपराधीन। 'क्लेश-स्वतन्त्र' पाठ का अर्थ होगा क्लेश का जो स्व-आतमभाव उसके अधीन। दोनों पाठों का भावार्थ क्लेश-वश होना है।

*नीच कर्म से यह अभिप्राय यहां कड़ी मेहनत के काम से है जिसे 'पसीना बहाना' द्वारा प्रकट किया गया है।

मानेन* दुर्गतिं नीता मानुष्येऽपि हतोत्सवाः ।
परिपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शनाः कृशाः ॥५७॥

सर्वतः परिभूताश्च मानस्तब्धास्तपस्विनः ।
तेऽपि चेन्मानिनां मध्ये दीनास्तु वद कीदृशाः ॥५८॥

मान* से (कितने ही) दुर्गति को प्राप्त हुए हैं । (कितने ही) मनुष्य जन्म म भी निरानन्द हैं। (कितने ही) दूसरों के टुकड़ों पर जीते हैं, दास बने हैं, विवेक खो बैठे हैं। (कितने ही) बीभत्स, कृश, सर्वतः तिरस्कृत हैं। बेचारों में मान की अकड़ फिर भी है। उन्हें भी यदि मानियों में गिना जाए, तो बोलो कैसे लोग दीन हैं ?

ते मानिनो विजयिनश्च त एव शूरा ये मानशत्रुविजयाय वहन्ति मानं ।
ये तं स्फुरन्तमपि मानरिपुं निहत्य कामं जने जयफलं प्रतिपादयन्ति ॥५९॥

जिनमें मान-शत्रु के विजय के लिए मान है, जो उस मान-शत्रु को मार कर, उस विजय का इष्ट फल जगत् को चखाते हैं, वे मानी हैं, विजयी हैं और वे ही शूर हैं।

संक्लेशपक्षमध्यस्थो भवेद् दृप्तः सहस्रशः ।
दुर्योधनः क्लेशगणैः सिंहो मृगगणैरिव ॥६०॥

क्लेशों के बीच पड़ सहस्रगुना दृप्त होना चाहिए । मृग-समूहों से सिंह की भांति क्लेश-समूहों से पराजित न होना चाहिए।

महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु न रसं चक्षुरीक्षते ।
एवं कृच्छ्रमपि प्राप्य न क्लेशवशगो भवेत् ॥६१॥

बड़ी से बड़ी विपत्ति में आंख रस ग्रहण नहीं करती। इसी प्रकार विपत्ति में पड़कर भी क्लेश-वशीभूत न होना चाहिए।

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत् ।
तत्कर्मशौण्डो ऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत् ॥६२॥

जो काम आ पड़े उस काम में (द्यूत) क्रीड़ा से मिलने वाले सुख के लंपट (जुआरी) की भांति तल्लीन होना चाहिए, उसी काम में रमना चाहिए, उससे ऊबना न चाहिए।

सुखार्थं क्रियते कर्म तथापि स्यान्न वा सुखं ।
कर्मैव तु सुखं यस्य निष्कर्मा स सुखी कथं ॥६३॥

सुख हो या न हो, कर्म सुख के लिए ही किया जाता है । कर्म ही जिसके लिए सुख है, वह अकर्मण्य रह कर कैसे सुखी रह सकता है ?

कामैर्न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः ।
पुण्यामृतैः कथं तृप्तिर्विपाकमधुरैः शिवैः ॥६४॥

संसार में कामों (के भोग) से तृप्ति नहीं होती यद्यपि वे छुरे की धार में लगे

---

*ऊंच-नीच का भाव ।

मधु के समान हैं (कि जो चाटे उसी की जीभ कटे) फिर भला परिणाम में मधुर, मंगलमय, पुण्य के अमृत से तृप्ति हो तो कैसे ?

तस्मात्कर्मावासनोऽपि निमज्जेत्तत्र कर्मणि ।।
यथा मध्याह्नसंतप्त आदौ प्राप्तसरा: करी ।६५।।

कर्म के समाप्त होने पर उस कर्म (के आनंद) में डूबे रहना चाहिए। जैसे दोपहर का तपा हाथी (जिस) तालाब को पाकर पहल-पहल डुबकी लगाता है (बाद में भी उसी के आनंद में डूबा रहता है)।

बलनाशानुबन्धे तु पुनः कर्तुं परित्यजेत् ।
सुसमाप्तं तु तन्मुञ्चेदुत्तरोत्तरतृष्णया ।।६६।।

सामर्थ्य की कमी के कारण (कुछ समय तक के लिए काम का छोड़ना आवश्यक हो तो) फिर करने के विचार से छोड़े। उत्तरोत्तर (उस कार्य के प्रति) तृष्णा (रखने) के साथ, उसे अच्छी तरह पूर्ण करके ही छोड़े।

क्लेशप्रहारन् संरक्षेत् क्लेशांश्च प्रहरेद् दृढं ।
खड्गयुद्धमिवापन्नः शिक्षितेनारिणा सह ।।६७।।

शिक्षित शत्रु से तलवार की लड़ाई लड़ने की तरह क्लेशों की चोटों (से अपने) को बचाना चाहिए और क्लेशों पर चोटें करनी चाहिए।

तत्र खड्गं यथा भ्रष्टं गृह्णीयात् सभयस्त्वरं ।
स्मृतिखड्गं तथा भ्रष्टं गृह्णीयान्नरकान् स्मरन् ।।६८।।

उस (युद्ध) में जैसे गिरी तलवार भय से झटपट उठाई जाती है, वैसे ही नरकों का स्मरण करते हुए छूटी हुई स्मृति की तलवार उठानी चाहिए।

विषं रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ ।
तथैव च्छिद्रमासाद्य दोषश्चित्ते प्रसर्पति ।।६९।।

जैसे लोहू पाकर विष शरीर में फैल जाता है वैसे ही छिद्र (=स्मृति का अभाव) पाकर दोष चित्त में फैल जाता जाता है।

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः ।
स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात् तथा व्रती ।।७०।।

तैल-पात्रधारी (व्यक्ति), तलवार खींचे हुए पुरुषों के बीच, (तैल) गिरने से मृत्यु होगी--इस भय से, जिस प्रकार तत्पर (=सावधान) रहता है, उसी प्रकार व्रती को तत्पर रहना चाहिए।

तस्मादुत्संगगे सर्पे यथोत्तिष्ठति सत्वरं ।
निद्रालस्यागमे तद्वत्प्रतिकुर्वीत सत्वरं ।।७१।।

इसलिए जैसे गोद में सांप आ पड़ने पर (मनुष्य) झटपट उठ पड़ता है, वैसे नींद और आलस्य आने पर झटपट प्रतिकार [illegible] चाहिए।

एकैकस्मिंश्छले सुष्ठु परितप्य विचिन्तयेत् ।
कथं करोमि येनेदं पुनर्मे न भवेदिति ॥७२॥

एक-एक भूल पर खूब पछताकर सोचे कि कैसे करूं जिसमें यह (भूल) फिर न हो।

संसर्गं कर्म वा प्राप्तमिच्छेदेतेन हेतुना ।
कथं नामास्ववस्थासु स्मृत्याभ्यासो भवेदिति ॥७३॥

इन (दोषों की) अवस्थाओं में कैसे स्मृति निरंतर बनी रहे—इसके निमित्त या तो (सत–) संग की या उचित (दंड–) कर्म की कामना करे।

लघुं कुर्यात्तथात्मानमप्रमादकथां स्मरन् ।
कर्मागमाद् यथा पूर्वं सज्जः सर्वत्र वर्तते ॥७४॥

अप्रमाद-कथा का स्मरण करते हुए अपने आपको इस प्रकार तैयार रखे, जिस प्रकार सर्वत्र कार्यारंभ से पूर्व (मनुष्य) तैयार रहता है।

यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशं ।
तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिश्चैवं समृध्यति ॥७५॥

जिस प्रकार रूई इधर-उधर डोलने में* वायु के वश होती है, उसी प्रकार उत्साह के वश में होना चाहिए। ऐसा होने से ऋद्धि-सिद्धि होती है।

*अक्षरार्थ—आने-जाने में।

अष्टम परिच्छेद

ध्यान-पारमिता

वर्धयित्वैवमुत्साहं समाधौ स्थापयेन्मनः ।
विक्षिप्तचित्तस्तु नरः क्लेशदंष्ट्रान्तरे स्थितः ॥१॥

इस प्रकार उत्साह बढ़ाकर मन को समाधि में स्थापित करना चाहिए, क्योंकि विक्षिप्तचित्त मनुष्य की स्थिति क्लेश की दाढ़ों में होती है।

कायचित्तविवेकेन विक्षेपस्य न संभवः ।
तस्माल्लोकं परित्यज्य वितर्कान् परिवर्जयेत् ॥२॥

कायविवेक और चित्तविवेक से विक्षेप नहीं होता। इसलिए लोक (संसर्ग) का त्याग कर वितर्क-परित्याग करना चाहिए ।

स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णया ।
तस्मादेतत्परित्यागे विद्वानेवं विभावयेत् ॥३॥

स्नेह और लाभ आदि की तृष्णा के कारण लोक (संसर्ग) का परित्याग नहीं हो पाता। इसलिए इनका परित्याग करने के लिए विद्वान् को यों भावना करनी चाहिए --

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥४॥

समाधि और प्रज्ञा से संयुक्त (पुरुष) क्लेशों का नाश करता है--ऐसा समझ पहले समाधि खोजनी चाहिए, और वह लोक-रति की अपेक्षा न रखने से होती है।

कस्यानित्येष्वनित्यस्य स्नेहो भवितुमर्हति ।
येन जन्म सहस्राणि द्रष्टव्यो न पुनः प्रियः ॥५

अनित्यों से किस अनित्य का स्नेह होना उचित है कि सहस्रों जन्मों में प्रिय के दर्शन तक नहीं हो पाते ।

अपश्यन्नरतिं याति समाधौ न च तिष्ठति ।
न च तृप्यति दृष्ट्वापि पूर्ववद् बाध्यते तृषा ॥६॥

बिना देखे मन नहीं लगता और समाधि में स्थिति नहीं रहती तथा देख कर भी तृप्ति नहीं होती--पहले जैसी ही अभिलाषा रहती है ।

न पश्यति यथाभूतं संवेगादवहीयते ।
दह्यते तेन शोकेन प्रियसंगमकांक्षया ॥७॥

प्रिय के समागम की इच्छा से (मनुष्य) तत्त्व नहीं देखता, संवेग से हीन हो जाता है, उस (वियोग-) शोक से जलता रहता है ।

तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहुः ।
अशाश्वतेन मित्रेण धर्मो भ्रश्यति शाश्वतः ॥८॥

उसकी चिन्ता में बारंबार आयु झट से क्षीण होती रहती है । अनित्य मित्र के कारण नित्य-धर्म को हानि होती है ।

बालैः सभागचरितो नियतं याति दुर्गतिं ।
नेष्यते विसभागश्च किं प्राप्तं बालसंगमात् ॥९॥

चरित्र में जो पृथग्जनों* के समान है, वह निश्चय ही दुर्गति को जाता है और जो समान नहीं उसे (पृथग्जन) चाहते नहीं । अतः पृथग्जनों से लाभ क्या ?

क्षणाद् भवन्ति सुहृदो भवन्ति रिपवः क्षणात् ।
तोषस्थाने प्रकुप्यन्ति दुराराध्याः पृथग्जनाः ॥१०॥

क्षण में मित्र हो जाते हैं, क्षण में शत्रु हो जाते हैं । जहां संतुष्ट होना चाहिए वहां कुपित होते हैं । पृथग्जनों को संतुष्ट करना कठिन है ।

हितमुक्ताः प्रकुप्यन्ति वारयन्ति च मां हितात् ।
अथ न श्रूयते तेषां कुपिता यान्ति दुर्गतिं ॥११॥

हित की कहने से कोप करते हैं ? मुझे हित करने से रोकते हैं । यदि उनकी न सुनो तो कुपित होते हैं (जिसके फलस्वरूप) दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् द्वन्द्वो हीनान्मानः स्तुतेर्मदः ।
अवर्णात्प्रतिघश्चेति कदा बालाद्धितं भवेत् १२॥

उत्कृष्ट से ईर्ष्या, समान से कलह, हीन से मान, स्तुति से अहंकार, निन्दा से द्वेष, (पृथग्जन को होता है) । पृथग्जन से हित होता ही कब है ?

आत्मोत्कर्षः परावर्णः संसाररतिसंकथा ।
इत्याद्यवश्यमशुभं किं चिद् बालस्य बालतः ॥१३॥

आत्म-स्तुति, पर-निंदा, सांसारिक रति-चर्चा---इसी प्रकार का कोई न कोई पाप पृथग्जन से पृथग्जन को होता है ।

एवं तस्यापि तत्संगात् तेनानर्थसमागमः ।
एकाकी विहरिष्यामि सुखमक्लिष्टमानसः ॥१४॥

ऐसा ही एक का दूसरे के साथ से होता है** । (यह पृथग्जन का साथ वस्तुतः) अनर्थ का साथ है । इसलिए सुख से , क्लेश-रहित सबसे अकेले विहार करूंगा ।

बालाद्दूरं पलायेत प्राप्तमाराधयेत् प्रियैः ।
न संस्तवानुबन्धेन किन्तूदासीनसाधुवत् ॥१५॥

---

*पृथग्जन और बाल दोनों पर्याय हैं । कभी-कभी "बालपृथग्जन" इस समस्त पद का प्रयोग होता है । हिन्दी के 'बेसमझ' तथा अंग्रेजी के layman शब्द से इसके भाव को अंशतः प्रकट किया जा सकता है । **अक्षरार्थ-ऐसा उसका भी उसके साथ से होता है ।

पृथग्जन से दूर भागता रहे। आ पहुँचे तो संस्तव-अनुबन्ध (flattering=भड़ैती) द्वारा नहीं, प्रत्युत् उदासीन संत जैसे (ढंग से) प्रीति-व्यवहार करे।

धर्मार्थमात्रमादाय भृंगवत् कुसुमान्मधु।
अपूर्व इव सर्वत्र विहरिष्याम्यसंस्तुतः ॥१६॥

भौंरे की भांति फूल से मधु लेने के समान केवल धर्मप्रयोजनक अर्थ* लेकर सर्वत्र अपरिचित एवं नवागन्तुक की भांति विहार करूंगा।

लाभी च सत्कृतश्चाहमिच्छन्ति बहवश्च मां।
इति मर्त्यस्य संप्राप्तान्मरणाज्जायते भयं ॥१७॥

मैं लोभी हूँ, सत्कृत हूँ, मुझे बहुत लोग चाहते हैं--ऐसा सोचने वाले मनुष्य को मौत आने पर बड़ा डर लगता है।

यत्र यत्र रतिं याति मनः सुखविमोहितं।
तत्तत् सहस्रगुणितं दुःखं भूत्वोपतिष्ठति ॥१८॥

सुख से मोहित मन का जिस-जिसमें रति होती है, वह-वह सहस्रगुणित दुःख होकर उपस्थित होता है।

तस्मात्प्राज्ञो न तामिच्छेद् इच्छातो जायते भयं।
स्वयमेव च यात्येतद् धैर्यं कृत्वा प्रतीक्षतां ॥१९॥

इसलिए बुद्धिमान् को उस (रति) की इच्छा न करनी चाहिए। इच्छा से भय होता है। यह (भय) अपने आप (आता-) जाता है (यह सोचकर) धैर्य धर कर प्रतीक्षा करनी चाहिए।

बहवो लाभिनोऽभूवन् बहवश्च यशस्विनः।
सहलाभयशोभिश्च न ज्ञाताः क्व गता इति ॥२०॥

बहुत से लाभी हुए और बहुत से यशस्वी। लाभ और यश के साथ वे कहां गये, पता नहीं।

मामेवान्ये जुगुप्सन्ति किं प्रहृष्याम्यहं स्तुतः।
मामेवान्ये प्रशंसन्ति किं विषीदामि निन्दितः ॥२१॥

स्तुति की जाने पर मैं क्यों प्रसन्न होता हूँ (जब कि) दूसरे मेरी ही निन्दा कर रहे हैं। निन्दा की जाने पर (मैं) क्यों विषाद करता हूँ (जब कि) दूसरे मेरी ही प्रशंसा कर रहे हैं।

नानाधिमुक्तिकाः सत्त्वा जिनैरपि न तोषिताः।
किं पुनर्मादृशैरज्ञैस्तस्मात् किं लोकचिन्तया ॥२२॥

प्राणी नाना-अधिमुक्तिक (विभिन्न श्रद्धा-विश्वास वाले) होते हैं। (सबको)

---

*केवल धर्मप्रयोजनक अर्थ (मूल-'धर्मार्थमात्र') का भाव है--जितने अर्थ अर्थात् भोजनाच्छादन से धर्माचरण हो सके, बस उतना ही।

बुद्ध भी न प्रसन्न रख पाये फिर मेरे जैसे अज्ञानी क्या (प्रसन्न रख पायेंगे ?) दुनिया की चिंता से (लाभ) क्या ?

निन्दन्त्यलाभिनं सत्त्वमवध्यायन्ति लाभिनं ।
प्रकृत्या दुःखसंवासैः कथं तैर्जायते रतिः ॥२३॥

(पृथग्जन) अलाभी प्राणी की निन्दा करते हैं। लाभी के प्रति खीझते हैं। स्वभावतः उनकी संगति से दुःख होता है। उनसे (मन को) शांति हो तो कैसे ?

न बालः कस्य चिन्मित्रमिति ह्युक्तं तथागतैः ।
न स्वार्थेन बिना प्रीतिर्यस्माद् बालस्य जायते ॥२४॥

पृथग्जन किसी का मित्र नहीं होता--ऐसा तथागतों का कथन है। क्योंकि पृथग्जन का प्रेम बिना स्वार्थ के नहीं होता।

स्वार्थभावेन या प्रीतिरात्मार्थं प्रीतिरेव सा ।
द्रव्यनाशे यथोद्वेगः सुखहानिकृतो हि सः ॥२५॥

अपने स्वार्थ की भावना से जो प्रीति होती है, वह अपने ही लिए होती है। जैसे द्रव्यनाश से जो दुःख होता है, वह सुख की हानि करने के कारण होता है।

नावध्यायन्ति तरवो न चाराध्याः प्रयत्नतः ।
कदा तैः सुखसंवासैः सहवासो भवेन्मम ॥२६॥

वृक्ष खीझते नहीं। जतन से आराधना नहीं करनी पड़ती। उनके सहवास से सुख होत है। मेरा कब उनके साथ सहवास होगा ?

शून्यदेवकुले स्थित्वा वृक्षमूले गुहासु च ।
कदानपेक्षो यास्यामि पृष्ठतो ऽनवलोकयन् ॥२७॥

सूने देवालय में, वृक्षों के तले, गुहाओं में ठहर कर, पीछे न देखते हुए, कब इस दुनिया के झंझट से दूर हो* विचरूंगा ?

अममेषु प्रदेशेषु विस्तीर्णेषु स्वभावतः ।
स्वच्छन्दचार्यनिलयो विहरिष्याम्यहं कदा ॥२८॥

सहज ही फैले हुए प्रदेशों में, जिनमें मेरा कुछ नहीं है†, कब स्वच्छन्द विचरते हुए विहार करूँगा।

मृत्पात्रमात्रविभवश्चौरासंभोगचीवरः ।
निर्भयो विहरिष्यामि कदा कायमगोपयन् ॥२९॥

केवल मिट्टी के पात्र की संपत्ति के साथ, चोरों के काम न आने वाला चीवर पहने, शरीर को बिना लुकाये-छिपाये, निर्भय हो कब विहार करूँगा ?

कायभूमिं निजां गत्वा कंकालैरपरैः सह ।
स्वकायं तुलयिष्यामि कदा शतनधर्मिणं ॥३०॥

---

*यह अनपेक्ष शब्द का भाव है। †अमम शब्द का भाव।

शरीर की अपनी जगह (श्मशान) जाकर दूसरे कंकालों के साथ सड़ने-गलने वाले अपने शरीर की कब तुलना करूंगा।

अयमेव हि कायो मे एवं पूतिर्भविष्यति ।
शृगाला अपि यद्गन्धान्नोपसर्पेयुरन्तिकं ॥३१॥

यही मेरा शरीर इस प्रकार सड़-गल जायगा कि जिसकी गंध से शृगाल भी पास नहीं फटकेंगे ।

एकैकस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखंडकाः ।
पृथक् पृथग् गमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः ॥३२॥

इस अखंड शरीर के साथ भी उत्पन्न अस्थि-खंड अलग-अलग हो जायेंगे । प्रियजनों (से अलगाव) की तो बात ही क्या ?

एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि ।
नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः ॥३३॥

अकेला ही प्राणी जनमता है और अकेला ही मरता है । दूसरा उसका दुःख नहीं बँटाता । (इसलिए पुण्य में) विघ्न डालने वाले प्रियों से क्या ?

अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावासपरिग्रहः ।
तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः ॥३४॥

राही जैसे (ग्राम को) बसेरा लेता है, वैसे ही भव के राही के लिए जन्म बसेरा लेना है ।

चतुर्भिः पुरुषैर्यावत् स न निर्धार्यते ततः ।
आशोच्यमानो लोकेन तावदेव वनं व्रजेत् ॥३५॥

लोग रो-पीट कर जब तक चार पुरुषों द्वारा उठा नहीं ले जाते तब तक वन की राह पकड़नी चाहिए ।

असंस्तवाविरोधाभ्यामेक एव शरीरकः ।
पूर्वमेव मृतो लोके म्रियमाणो न शोचति ॥३६॥

राग-द्वेष न होने से लोगों के लिए पहले से ही मृत शरीरधारी अकेला ही है, (उसे) मरते हुए सोच नहीं होता ।

न चान्तिकचराः केचिच्छोचन्तः कुर्वते व्यथां ।
बुद्धानुस्मृतिं चास्य विक्षिपन्ति न के चन ॥३७॥

(मरण-काल में) कोई आसपास रहते सोच करते हुए उसे व्यथा नहीं पहुँचाते । कोई उसकी बुद्ध आदि की अनुस्मृतियों में विक्षेप नहीं कर पाता ।

तस्मादेकाकिता रम्या निरायासा शिवोदया ।
सर्वविक्षेपशमनी सेवितव्या मया सदा ॥३८॥

इसलिए रमणीय, दुःखरहित, कल्याणजनक, सब विक्षेपों को शांत करने वाली एकाकिता का मुझे सर्वदा सेवन करना चाहिए ।

सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्तः स्वचित्तैकाग्रमानसः ।
समाधानाय चित्तस्य प्रयतिष्ये दमाय च ॥३९॥

दूसरी सब चिन्ताओं से मुक्त, अपने मन की एकाग्र भावना के साथ, चित्त की समाधि और दमन का यत्न करूंगा ।

कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च ।
इह बन्धबधच्छेदैर्नरकादौ परत्र च ॥४०॥

इहलोक और परलोक में काम द्वारा अनर्थ होता है । इहलोक, परलोक एवं नरकादि में वध, बंधन और छेदन द्वारा (वह अनर्थ होता है) ।

यदर्थं दूतदूतीनां कृतांजलिरनेकधा ।
न च पापमकीतिर्वा यदर्थं गणिता पुरा ॥४१॥

प्रक्षिप्तश्च भयेऽप्यात्मा द्रविणं च व्ययीकृतं ।
यान्येव च परिष्वज्य बभूवोत्तमनिर्वृतिः ॥४२॥

तान्येवास्थीनि नान्यानि स्वाधीनान्यममानि च ।
प्रकामं संपरिष्वज्य किं न गच्छसि निर्वृतिं ॥४३॥

जिनके लिए अनेक बार दूत-दूतियों के हाथ जोड़े, पहले जिनके लिए न पाप की परवा की, न बदनामी की; अपने आपको भय में डाला, पैसा भी लुटाया, तथा जिन्हें लिपटा लेने में उत्तम सुख मिला; वही ये हड्डियां, दूसरी नहीं, अपने वश में हैं, दूसरा कोई उन्हें अपनाने वाला नहीं है । इनसे मन-भर लिपट कर क्यों सुखी नहीं होते ?

उन्नाम्यमानं यत्नाद् यन्नीयमानमधो ह्रिया ।
पुरा दृष्टमदृष्टं वा मुखं जालिकयावृतं ॥४४॥

तन्मुखं त्वत्परिक्लेशमसहद्भिरिवाधुना ।
गृध्रैर्व्यक्तीकृतं पश्य किमिदानीं पलायसे ॥४५॥

जतन से उठाने पर भी जो मुंह लाज से नीचे झुक जाता था, घूंघट में छिपा रहता था । (इसलिए) पहले या तो दिखता था या अनदेखा रह जाता था । तेरी (इस) व्यथा को न सहते हुए गिद्धों ने उस मुंह को आज उघाड़ दिया है । देख, अब क्यों भागता है ?

परचक्षुर्निपातेभ्योऽप्यासीद् यत्परिरक्षितं ।
तदद्य भक्षितं यावत् किमीर्ष्यालो न रक्षसि ॥४६॥

हे ईर्ष्यालु ! कहीं दूसरे की निगाह न पड़ जाये, (इसलिए) जिसकी रक्षा करता था; उसे आज गिद्ध तक खा रहे हैं, क्यों नहीं बचाता ?

मांसोच्छ्रयमिमं दृष्ट्वा गृध्रैरन्यैश्च भक्षितं ।
आहारः पूज्यतेऽन्येषां स्रक्चन्दनविभूषणैः ॥४७॥

इसे मांस-पुंज समझ गिद्धों तथा दूसरे (जीवों) ने खा डाला । (तुझसे) दूसरों के भोजन की माला, चन्दन और आभूषणों से पूजा की जाती रही ।

निश्चलादपि ते त्रासः कंकालादेवमीक्षितात् ।
वेताडेनेव केनापि चाल्यमानाद् भयं न किं ॥४८॥

इस प्रकार निश्चल दीखते कंकाल से तुझे डर है पर किसी बेताल से संचालित अर्थात् सजीव कंकाल से डर क्यों नहीं ?

एकस्मादशनादेषां लालामेध्यं च जायते ।
तत्रामेध्यमनिष्टं ते लालापानं कथं प्रियं ॥४९॥

एक ही भोजन से इन (प्राणियों) में लाला (=लार) और मल बनते हैं । उनमें मल तुझे नापसन्द है पर लाला-पान क्यों पसन्द ?

तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकैः ।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनोऽमेध्यमोहिताः ॥५०॥

मल से मोहित कामियों का तकियों से मन नहीं भरता जिनमें कि रूई भरी है, जो छूने में नरम हैं, जिनमें बदबू भी नहीं आती ।

यत्र च्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियं ।
न चेत् प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते ॥५१॥

जो (मलमूत्र) ढका है, उससे यह प्रेम ! और जो ढका नहीं, उस पर प्रेम नहीं । यह क्यों ! यदि यह निष्प्रयोजन है तो ढके के प्रति किस (प्रयोजन) से रगड़ ?

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिंगसे ऽपरं ।
मांसकदर्मसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरं ॥५२॥

यदि तेरा अशुचि से प्रेम नहीं तो दूसरे को क्यों गले लगाता है ? वह नसों से बंधा, मांस के कीचड़ से लीपा गया, हड्डियों का पिंजड़ा ही तो है ।

स्वमेव बह्वमेध्यं ते तेनैव धृतिमाचर ।
अमेध्यभस्त्रामपरां गूथघस्मर विस्मर ॥५३॥

तेरे पास अपना ही मल बहुत है, उसी से संतोष कर ले । हे मलभक्षी ! मल की दूसरी धौंकनी को भूल जा ।

मांसप्रियोऽहमस्येति द्रष्टुं स्प्रष्टुं च वाञ्छसि ।
अचेतनं स्वभावेन मांसं त्वं कथमिच्छसि ॥५४॥

"मुझे इसके मांस से प्रेम है" यह समझ यदि तेरी देखने और छूने की इच्छा है तो तू स्वभाव से अचेतन मांस को क्यों चाहता है ?

यदिच्छसि न तच्चित्तं द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्यते ।
यच्च शक्यं न तद्वेत्ति किं तदालिंगसे मुधा ॥५५॥

जिसे चाहता है, उस चित्त को देखा-छुआ नहीं जा सकता । जिसे देखा-छुआ जा सकता है वह (—शरीर) जानता नहीं । तब क्यों बेकार आलिंगन करता है ।

नामेध्यमयमन्यस्य कायं वेत्सीत्यनद्भुतं ।
स्वामेध्यमयमेव त्वं तं नावैषीति विस्मयः ॥५६॥

"दूसरे का शरीर मलमय है"—यह तू नहीं जानता सो अचरज नहीं। तू स्वयं मलमय है और उसे तू नहीं जानता, यही अचरज है।

विघनार्कांशुविकचं मुक्त्वा तरुणपंकजं ।
अमेध्यशौण्डचित्तस्य का रतिर्गूथपंजरे ॥५७॥

मेघ से अनाच्छादित सूर्य की किरणों से खिले नवीन कमल को छोड़ मल के शौकीन चित्त का मलपंजर में रमना क्या (उचित) है ?

मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वाद् यदि न स्प्रष्टुमिच्छसि ।
यतस्तन्निर्गतं कायात्तं स्प्रष्टुं कथमिच्छसि ॥५८॥

यदि (तू) मल से सनी मिट्टी आदि को नहीं छूना चाहता तो जिस शरीर से वह मल निकलता है, उसे क्यों छूना चाहता है ?

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिंगसे परं ।
अमेध्यक्षेत्रसंभूतं तद् बीजं तेन वर्धितं ॥५९॥

यदि तेरा अशुचि से प्रेम नहीं तो क्यों दूसरे को गले लगाता है। वह अशुचि के क्षेत्र (=उदर) से उत्पन्न और उस (अशुचि) से वर्धित बीज ही तो है।

अमेध्यभवमल्पत्वान्न वांछस्यशुचिं कृमिं ।
बह्वमेध्यमयं कायममेध्यजमपीच्छसि ॥६०॥

मल से उत्पन्न अशुचि कीट को नहीं चाहता यद्यपि उसमें मल का लवलेश ही है पर मल से उत्पन्न शरीर ही को चाहता है जिसमें मल की बहुलता है।

न केवलममेध्यत्वमात्मीयं न जुगुप्ससि ।
अमेध्यभाण्डानपरान् गूथघस्मर वांछसि ॥६१॥

हे मलभक्षी ! तुझे अपने मल से तो घृणा है ही नहीं, साथ में मल के भांडों को और चाहता है।

कर्पूरादिषु हृद्येषु शाल्यन्नव्यंजनेषु वा ।
मुखक्षिप्तविसृष्टेषु भूमिरप्यशुचिर्मता ॥६२॥

मनोरम कर्पूर आदि अथवा शालि, अन्न और व्यंजन मुंह में डाल कर उगल देने से भूमि भी अपवित्र मानी जाती है।

यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्यं नाधिमुच्यसे ।
श्मशाने पतितान् घोरान् कायान् पश्यापरानपि ॥६३॥

यदि इस प्रत्यक्ष अशुचि पर विश्वास नहीं करता तो श्मशान में पड़े दूसरे घोर शरीरों को भी देख।

चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् भयमुत्पद्यते महत् ।
कथं ज्ञात्वापि तत्रैव पुनरुत्पद्यते रतिः ॥६४॥

जिस (शरीर) से खाल उधेड़ने पर बड़ा डर लगता है, उसमें ही फिर जान-बूझ कर तेरा प्रेम कैसे ?

काये न्यस्तो ऽप्ययं गन्धश्चन्दनादेव नान्यतः ।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥६५॥

शरीर पर लगा यह गन्ध चन्दन का ही है, दूसरे का नहीं । गंध दूसरे का है, पर उससे प्रेम दूसरे पर । यह क्यों ?

यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् रागो नात्र शिवं ननु ।
किमनर्थरुचिर्लोकस्तं गन्धेनानुलिम्पति ॥६६॥

सहज दुर्गंधित इस (शरीर) से प्रेम न होता तो (प्राणियों) का कल्याण होता । पता नहीं अनर्थप्रिय लोग उस पर गंध क्यों लगाते हैं ?

कायस्यात्र किमायातं सुगन्धि यदि चन्दनं ।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥६७॥

यदि चन्दन सुगंध वाला है तो इसमें शरीर का क्या ? गन्ध दूसरे का है और उससे प्रेम दूसरे पर । यह क्यों ?

यदि केशनखैर्दीर्घैर्दन्तैः समलपांडुरैः ।
मलपंकधरो नग्नः कायः प्रकृतिभीषणः ॥६८॥

स किं संस्क्रियते यत्नादात्मघाताय शस्त्रवत् ।
आत्मव्यामोहनोद्युक्तैरुन्मत्तैराकुला मही ॥६९॥

बड़े-बड़े केश-नख, मैले-मैले पीले दांतों से युक्त, मल की कीचड़ से लतपत शरीर स्वभाव से ही यदि भयंकर है, तो यत्न से उसका संस्कार करना आत्मघात के लिए शस्त्र का संस्कार करना जैसा है । वह क्यों करते हो ? (हन्त !) अपने आप को मोहित करने में लगे पगलों से पृथिवी व्याप्त है ।

कंकालान् कतिचिद् दृष्ट्वा श्मशाने किल ते घृणा ।
ग्रामश्मशाने रमसे चलत्कंकालसंकुले ॥७०॥

श्मशान में थोड़े से कंकालों को देख तुझे घृणा होती है पर चलते-फिरते कंकालों से पूर्ण ग्रामरूपी श्मशान में (तू) रमता है ।

एवं चामेध्यमप्येतद् विना मूल्यं न लभ्यते ।
तदर्थमर्जनायासो नरकादिषु च व्यथा ॥७१॥

इस प्रकार का मैला (–प्रियतमा का शरीर) भी बिना मूल्य नहीं मिलता । उसके लिए धन कमाने का क्लेश और नरक आदि में पीड़ा होती है ।

शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं केनासौ यौवने सुखी ।
यात्यर्जनेन तारुण्यं वृद्धः कामैः करोति किं ॥७२॥

बच्चे में कमाने की शक्ति नहीं होती, वह यौवन में सुखी हो तो कैसे ? कमाने में यौवन चला जाता है । बूढ़े को काम भोगों से लेना-देना क्या ?

केचिद्दिनान्तव्यापारैः परिश्रान्ताः कुकामिनः ।
गृहमागत्य सायाह्ने शेरते स्म मृता इव ॥७३॥

कुत्सित कामना वाले कितने ही दिन भर काम कर थके हुए शाम को घर आकर मुर्दे के समान सोते हैं ।

दण्डयात्राभिरपरे प्रवासक्लेशदुःखिताः ।
वत्सरैरपि नेक्षन्ते पुत्रदारांस्तदर्थिनः ॥७४॥

दूसरे युद्ध-यात्राओं में, प्रवास के क्लेश से दुःखित, चाहते हुए भी स्त्री-पुत्रों को बरसों तक नहीं देख पाते ।

यदर्थमिव विक्रीत आत्मा कामविमोहितैः ।
तन्न प्राप्तं मुधैवायुर्नीतं तु परकर्मणा ॥७५॥

काम से मोहित हो जिस (सुख) के लिए अपने आपको बेच सा डाला, वह न मिला । पर आयु दूसरे की चाकरी में गंवा दी ।

विक्रीतस्वात्मभावानां सदा प्रेषणकारिणां ।
प्रसूयन्ते स्त्रियोऽन्येषामटवीविटपादिषु ॥७६॥

जिन्होंने अपने आपको बेच दिया है तथा और लोग जिन्हें सदा आने-जाने का काम पड़ता है, उनकी स्त्रियां जंगल में वृक्ष आदि के तले प्रसव करती हैं ।

रणं जीवितसंदेहं विशन्ति किल जीवितुं ।
मानार्थं दासतां यान्ति मूढाः कामविडम्बिताः ॥७७॥

कामों से अभिभूत मूढ़ जन जीविका के लिए जान को जोखिम में डालने वाले युद्ध के भीतर जाते हैं, मान के लिए दास बनते हैं ।

छिद्यन्ते कामिनः के चिदन्ये शूलसमर्पिताः ॥
दृश्यन्ते दह्यमानाश्च हन्यमानाश्च शक्तिभिः ॥७८॥

कितने ही कामी काट डाले जाते हैं, दूसरे शूली पर चढ़ा दिये जाते हैं, (कितने ही) जलाये जाते और बरछियों से मारे जाते दिखायी देते हैं ।

अर्जनरक्षणनाशविषादैरर्थमनर्थमनन्तमवेहि ।
व्यग्रतया धनसक्तमतीनां नावसरो भवदुःखविमुक्तेः ॥७९॥

अर्थ को न अन्त होने वाला अनर्थ समझो । इसके अर्जन में दुःख है, रक्षण में दुःख है और नाश में दुःख है । धन में जिनका मन फंसा है, उन्हें बेचैनी बनी रहती है । भव-दुःख से छुटकारा पाने की उन्हें छुट्टी नहीं मिलती ।

एवमादीनवो भूयानल्पास्वादस्तु कामिनां ।
शकटं वहतो यद्वत्पशोर्घासलवग्रहः ॥८०॥

इस प्रकार कामियों को अनर्थ बहुत और सुख बहुत कम होता है। उनकी दशा उस पशु जैसी होती है जो गाड़ी खींचते-खींचते घास में मुंह मार लेता है।

तस्यास्वादलवस्यार्थे यः पशोरप्यदुर्लभः ।
हता दैवहतेनेयं क्षणसंपत् सुदुर्लभा ॥८१॥

उस जरा से मजे के लिए, जो पशु के लिए भी दुर्लभ नहीं है, हतभागी (मनुष्य) अत्यन्त दुर्लभ क्षणसंपत्ति का नाश कर डालता है।

अवश्यं गन्तुरल्पस्य नरकादिप्रपातिनः ।
कायस्यार्थे कृतो योऽयं सर्वकालं परिश्रमः ॥८२॥

ततः कोटिशतेनापि श्रमभागेन बुद्धता ।
चर्यादुःखान्महद्दुःखं सा च बोधिर्न कामिनां ॥८३॥

नश्वर, निकृष्ट, नरकादि में पतनशील (इस भौतिक) शरीर के लिए जो यह सदा से परिश्रम किया है, उस श्रम के कोटिशत भाग से बुद्धत्व लाभ होता है, बोधिचर्या के दुःख से कामियों को अधिक दुःख सहना होता है, पर उन्हें बोधि नहीं मिलती।

न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः ।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ॥८४॥

जब नरक-दुःखों का स्मरण होता है तब जान पड़ता है कि दुःख देने में कामों की बराबरी न कोई शस्त्र कर सकता है, न विष, न अग्नि, न प्रपात (=भृगुपतन) और न शत्रुगण।

एवमुद्विज्य कामेभ्यो विवेके जनयेद् रतिं ।
कलहायासशून्यासु शांतासु वनभूमिषु ॥८५॥

इस प्रकार कामों से उद्विग्न होकर कलह और दुःख से रहित, शांत वन-भूमियों पर विवेकारामता उत्पन्न करनी चाहिए।

धन्यैः शशांककरचंदनशीतलेषु रम्येषु हर्म्यविपुलेषु शिलातलेषु ।
निःशब्दसौम्यवनमारुतवीज्यमानैश्चंक्रम्यते परहिताय विचिन्त्यते च ॥८६॥

चन्द्रकिरणों के चंदन से शीतल, महलों के समान विस्तीर्ण, रमणीय शिलातलों पर निःशब्द, सौम्य वन-पवन से वीजित धन्य लोग टहलते और परहित का चिंतन करते हैं।

विहृत्य यत्र क्व चिदिष्टकालं शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।
परिग्रहारक्षणखेदमुक्तश्चरत्यपेक्षाविरतो यथेष्टं ॥८७॥

अनासक्त (पुरुष) जहां कहीं शून्यागार, वृक्षतल अथवा गुहाओं में यथेष्ट समय तक विहार कर परिग्रह और आरक्षण के खेद से मुक्त हो यथाकाम विचरता है।

स्व च्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्य चित् ।
यत् संतोषसुखं भुंक्ते तदिन्द्रस्यापि दुर्लभं ॥८८॥

किसी के बन्धन में न फंसा हुआ, स्वतन्त्र विचरने वाला, अनागारिक जिस संतोष-सुख का भोग करता है वह इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है ।

एवमादिभिराकारैर्विवेकगुणभावनात् ।
उपशांतवितर्कः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत् ॥८९॥

इस प्रकार की विधियों से विवेक-गुण की भावना द्वारा वितर्कों का शमन कर बोधि-चित्त की भावना करनी चाहिए ।

परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत् ॥९०॥

पहले आदर से परात्मसमता की यों भावना करनी चाहिए--जैसे मैं अपनी पालना करता हूँ वैसे ही मुझे सबकी पालना करनी चाहिए (क्योंकि) जैसे दुःख (अपने को बुरा) और सुख (अपने को अच्छा लगता) है वैसे ही सबको (दुःख बुरा और सुख अच्छा लगता) है ।

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः ।
तथा जगद्भिन्नमभिन्नदुःखसुखात्मकं सर्वमिदं तथैव ॥९१॥

शरीर को एक मान कर पाला जाता है यद्यपि उसमें हाथ आदि के अनेक भेद रहते हैं । उसी प्रकार इस सब जगत् का पालन करना है यद्यपि उसमें भेद अनेक हैं पर सुख-दुःख (में सुखी-दुःखी होने का उसका) स्वभाव एक है ।

यद्यप्यन्येषु देहेषु मद्दुःखं न प्रबाधते ।
तथापि तद्दुःखमेव ममात्मस्नेहदुःसहं ॥९२॥

यद्यपि दूसरों के शरीरों में मेरा दुःख पीड़ा नहीं पहुँचाता फिर भी वह मेरे लिए दुःख ही है क्योंकि मुझे अपने से स्नेह है जिससे वह सहा नहीं जाता ।

तथा यद्यप्यसंवेद्यमन्यद्दुःखं मयात्मना ।
तथापि तस्य तद्दुःखमात्मस्नेहेन दुःसहं ॥९३॥

वैसे ही यद्यपि दूसरे के दुःख का अनुभव मुझे अपने आप नहीं होता फिर भी उसके लिए वह दुःख (ही) है । क्योंकि अपने से स्नेह होने के कारण वह उससे सहा नहीं जाता ।

मयान्यद्दुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत् ।
अनुग्राह्या मयान्येऽपि सत्त्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥९४॥

जैसे मैं अपना दुःख दूर करता हूँ, वैसे ही मुझे दूसरों का दुःख दूर करना है; क्योंकि (दुःख तो) दुःख ही है । मुझे दूसरे जीवों पर अनुग्रह करना है, क्योंकि जैसा जीव मैं हूँ, वैसे ही वे भी हैं ।

यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियं ।
तदात्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥९५॥

जब सुख जैसा अपने को प्रिय होता है, वैसा ही दूसरे को, तब अपनी विशेषता क्या? जो उसी के लिए सुख का यत्न?

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियं।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरं ॥९६॥

जब भय और दुःख जैसे मुझे प्रिय नहीं वैसे ही दूसरों को भी प्रिय नहीं, तब अपनी विशेषता क्या जो उसकी रक्षा करता हूँ, दूसरों की नहीं?

तद्दुःखेन न मे बाधेत्यतो यदि न रक्ष्यते।
नागामिकायदुःखान्मे बाधा तत्केन रक्ष्यते ॥९७॥

यदि पराए दुःख से मुझे पीड़ा नहीं होती, इसलिए उसकी रक्षा नहीं की जाती, तो आगामी (=परलोक में) शरीर से मुझे पीड़ा नहीं होती फिर उसकी रक्षा क्यों?

अहमेव तदापीति मिथ्येयं परिकल्पना।
अन्य एव मृतो यस्मादन्य एव प्रजायते ॥९८॥

तब (परलोक में) भी मैं ही हूँगा (इसलिए रक्षा करता हूँ, यदि ऐसा कहो तो) यह कल्पना मिथ्या है, क्योंकि और ही मरता है और और ही जन्म लेता है।

यदि यस्यैव यद् दुःखं रक्ष्यं तस्यैव तन्मतं।
पाददुःखं न हस्तस्य कस्मात्तत्तेन रक्ष्यते ॥९९॥

"जिसका जो दुःख, वह उससे अपने को बचाए (दूसरे को उससे क्या?)"--यदि ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता फिर क्यों उससे पैर की रक्षा करते हो?

अयुक्तमपि चेदेतदहंकारात् प्रवर्तते।
यदयुक्तं निवर्त्यं तत् स्वमन्यच्च यथाबलं ॥१००॥

यदि अहंकारवश यह (विचार) उत्पन्न होता है तो वह असंगत है और जो असंगत है उसे यथाशक्ति दूर करना चाहिए, वह अपना हो तो और पराया हो तो।

संतानः समुदायश्च पंक्ति सेनादिवन्मृषा।
यस्य दुःखं स नास्त्यस्मात् कस्य तत्स्वं भविष्यति ।१०१॥

संतान और समुदाय का (एकत्व) पंक्ति और सेना की भांति मिथ्या है। इसलिए जिसका (यह) दुःख है वह नहीं (ही) है फिर वह दुःख किसका अपना हो सकता है।

अस्वामिकानि दुःखानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
दुःखत्वादेव वार्याणि नियमस्तत्र किंकृतः ॥१०२॥

साधारण रूप से सभी दुःखों का स्वामी कोई (आत्मा) नहीं है। उनमें (अपने-पराये होने का) नियम किसने किया? "दुःख दुःख है"--बस इतने भर से उनका निवारण करना चाहिए।

दुःखं कस्मान्निवार्यं चेत् सर्वेषामविवादतः।
वार्यं चेत् सर्वमप्येवं न चेदात्मनि सर्ववत्* ॥१०३॥

---

*भोटानुवाद में पाठ "सेम्स्-चन् ब्शिन्"--सत्त्ववत् है। पाठान्तरमस्मादपि।

दुःख क्यों दूर करना ? (क्यों दुःख दूर करना चाहिए इसमें) सबका एक मत है। एवं यदि दुःख दूर करना है तो सब (का दुःख) दूर करना होगा, नहीं तो सबकी भांति अपना (दुःख भी) दूर नहीं करना होगा।

कृपया बहु दुःखं चेत् कस्मादुत्पाद्यते बलात् ।
जगद्दुःखं निरूप्येदं कृपादुःखं कथं बहु ॥१०४॥

कृपा से बहुत दुःख होता है, फिर बलात् उसे क्यों उत्पन्न किया जाये ? जगत् के इस दुःख को देख कर कृपा का दुःख बहुत कैसे ?

बहूनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति।
उत्पाद्यमेव तद्दुःखं सदयेन परात्मनोः ॥१०५॥

यदि एक के दुःख (उठाने) से बहुतों का दुःख चला जाय तो अपने और परायेपर कृपा करके वह दुःख उठाना ही चाहिए।

अतः सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापदं ।
आत्मदुःखं न निहतं बहूनां दुःखिनां व्ययात् ॥१०६॥

इसीलिए सुपुष्पचन्द्र ने राजदण्ड को जानते हुए भी बहुत से दुःखियों का उद्धार करने के निमित्त अपने दुःख को दूर नहीं किया।

(पंचिका में समाधिराज सूत्र में आई सुपुष्पचन्द्र कथा का संकेत किया गया है, जिसका सार यह है--शूरदत्त नामके एक राजा थे जिन्हें धर्म से बड़ी घृणा थी। उन्होंने अपने राज्य से धार्मिकों को निर्वासित कर दिया था। ये निर्वासित लोग अरण्य में धर्माभागक सुपुष्प-चन्द्र के साथ रहते थे। सुपुष्पचन्द्र ने लोक कल्याण के निमित्त शूरदत्त के राज्य में प्रवेश कर धर्मदेशना की। अनेक लोग उनके अनुयायी हो गये। राजा से यह देखा न गया और उसने जल्लाद को बुलवा कर सुपुष्पचन्द्र के अंग-प्रत्यंग कटवा, आंखें निकलवा कर मरवा डाला।)

एवं भावितसंतानाः परदुःखशमप्रियाः* ।
अवीचिमवगाहन्ते हंसाः पद्मवनं यथा ॥१०७॥

इस प्रकार जो सतत भावना करते रहते हैं, दूसरों का दुःख दूर करने में जिन्हें संतोष होता है, वे पद्मवन में हंसों की भांति (दूसरों का दुःख दूर करने के लिए) अवीचि-नरक तक में डुबकी लगाते हैं।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किं ॥१०८॥

प्राणियों के (दुःख से) मुक्त होने से तुझे जो प्रमोद-सिंधु मिलेंगे, बस वे ही पर्याप्त हैं। नीरस निर्वाण में है ही क्या ?

---

*पंचिका में "परदुःखसमप्रियाः" पाठ मान कर व्याख्या की गयी है पर व्याख्या से जान पड़ता है कि पंचिकाकार को पाठ लग नहीं रहा है। भोटानुवादक के सामने "परदुःख-शमप्रियाः" (गशन् ग्यी स्डुग् ब्स्ङल् शि् ब्गऽ बस्) पाठ था।

अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
न विपाकफलाकांक्षा परार्थैकान्ततृष्णया ॥१०९॥ †

इसलिए एकमात्र परोपकार की अभिलाषा से परोपकार करके भी न गर्व करना चाहिए और न विस्मय और न विपाक फल की इच्छा हो।

तस्माद्यथाल्पशो ऽवर्णादात्मानं गोपयाम्यहं ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं करोम्येवं परेष्वपि ॥११०॥

इसलिए जैसे मैं अपने को नाम मात्र की बदनामी से बचाता हूं, वैसे ही दूसरों पर मुझे दया और रक्षा का भाव रखना होगा ।

अभ्यासादन्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।
भवत्यहमिति ज्ञानमसत्यपि हि वस्तुनि ॥१११॥

तथा कायो ऽन्यदीयो ऽपि किमात्मेति न गृह्यते ।
परत्वं तु स्वकायस्य स्थितमेव न दुष्करं ॥११२॥

अभ्यासवश जिस प्रकार परकीय रजोवीर्य-बिन्दुओं में, वास्तविकता के न होने पर भी, अपनेपन का बोध होता है, उसी प्रकार दूसरे की काया को अपनी क्यों नहीं मानते । अपनी काया अपनी नहीं है--यह तो सहज ही सिद्ध है ।

ज्ञात्वा सदोषमात्मानं परानपि गुणोदधीन् ।
आत्मभावपरित्यागं परादानं च भावयेत् ॥११३॥

अपने को सदोष तथा दूसरों को गुणनिधि मानकर, अपने को (पराया मानकर) त्याग तथा पराये को (अपना मानकर) ग्रहण करने की भावना करनी चाहिए ।

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टाः करादयः ।
जगतो ऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ॥११४॥

जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे देह-धारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं ?

यथात्मबुद्धिरभ्यासात् स्वकाये ऽस्मिन् निरात्मके ।
परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्यासान्न जायते ॥११५॥

जिस प्रकार इस निरात्मक निज शरीर में अभ्यासवश अपने पन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे (प्राणियों के शरीरों) में अभ्यास से क्या अपनापन न उत्पन्न होगा ।

एवं परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
आत्मानं भोजयित्वैव फलाशा न च जायते ॥११६॥

इस प्रकार परार्थ करके भी न गर्व हो सकता है और न विस्मय । अपने आपको ही भोजन करा (किसी में उसके बदले के) फल की आशा नहीं होती ।

---

†श्लोक १०९ से १८६ तक एशियाटिक सोसाइटी के संस्करण में पंजिका के खंडित होने से नहीं हैं ।

तस्माद्यथार्तिशोकादेरात्मानं गोप्तुमिच्छसि ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं जगत्यभ्यस्यतां तथा ॥११७॥

इसलिए जैसे दुःख और शोक आदि से अपने आप को बचाना चाहते हो, वैसे ही जगत् के प्रति दया और रक्षा के भाव का अभ्यास करो।

अध्यतिष्ठदतो नाथः स्वनामाप्यवलोकितः ।
पर्षच्छारद्यभयमप्यपनेतुं जनस्य हि ॥११८॥

इसीलिए अवलोकितेश्वर ने जन के पर्षत्-शारद्य × रूपी भय को दूर करने के लिए अपने नाम का अधिष्ठान † किया है ।*

दुष्करान्न निवर्तेत यस्मादभ्यासशक्तितः ।
यस्यैव श्रवणात् त्रासस्तेनैव न बिना रतिः ॥११९॥

अभ्यास के बल से (मनुष्य) दुष्कर (कृत्य) से पीछे नहीं लौटता। जिसके सुनने से डर लगता है, उसी के बिना उसे चैन नहीं पड़ती।

आत्मानं च परांश्चैव यः शीघ्रं त्रातुमिच्छति ।
स चरेत् परमं गुह्यं परात्मपरिवर्तनं ॥१२०॥

जो अपने और पराये को शीघ्र बचाना चाहता हो, उसे चाहिए कि परम रहस्य परात्म-परिवर्तन का आचरण करे ।

यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहादल्पादपि भयाद् भयं ।
न द्विषेत् कस्तमात्मानं शत्रुवद् यो भयावहः ॥१२१॥

जिसे अपने (शरीर) में अत्यन्त स्नेह के कारण थोड़े भय में भी भय ही भय मालूम होता है, उस शत्रु के समान भयंकर अपने (शरीर) से कौन द्वेष करे ?

यो मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया ।
पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति ॥१२२॥

जो (अग्नि-) मांद्य, क्षुधा, पिपासा आदि (दुःखों) का प्रतिकार करने की इच्छा से पक्षी, मत्स्य और मृगों को मारता है तथा विरोध में खड़ा होता है।

× पर्षत्–शारद्य–सभा में (प्रश्न किये जाने पर) घबराहट। इस घबराहट के न होने को वैशारद्य कहते हैं। चार प्रकारके वैशारद्यों की बौद्धवाङ्मय में बहुत चर्चा है, जिनके विशेष विवरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद सुत्त को देखना चाहिए। इस सुत्त के अनुवाद के लिए देखिये मज्झिमनिकाय (राहुलसांकृत्यायन) पृष्ठ ४४–५२ ।

† अधिष्ठान–वरदान Blessing.

*भाव यह है कि जो सभा में अवलोकितेश्वर के नाम का स्मरण कर बैठेगा उसे सभा के बीच प्रश्नों के किये जाने पर घबराहट न होगी। अवलोकितेश्वर के नाम के साथ यह अधिष्ठान जुड़ा हुआ है ।

यो लाभसत्क्रियाहेतोः पितरावपि मारयेत् ।
रत्नत्रयस्वमादद्याद् येनावीचीन्धनो भवेत् ॥१२३॥

जो लाभ और सत्कार के लिए माता-पिता तक की हत्या करता है, त्रिरत्न के धन को छीन लेता है, और जिसके कारण (उसे) अवीचि-नरक का ईंधन होना पड़ता है।

कः पंडितस्तमात्मानमिच्छेद् रक्षेच्च पूजयेत् ।
न पश्येच् छत्रुवच्चैनं कश्चैनं प्रतिमानयेत् ॥१२४॥

कौन बुद्धिमान् उस अपने (शरीर) की इच्छा करे, रक्षा करे, पूजा करे। कौन (इसका) मान करे और इसे शत्रु के समान न देखे।

यदि दास्यामि किं भोक्ष्य इत्यात्मार्थे पिशाचिता ।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थे देवराजता ॥१२५॥

'यदि दूंगा तो क्या खाऊंगा' यह अपने लिए सोचना पिशाचपन है। 'यदि खाऊंगा तो क्या दूंगा' यह पराये के लिए सोचना देवराजता है।

आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते ।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थे सर्वसंपदः ॥१२६॥

अपने लिए दूसरे को पीड़ा देकर (मनुष्य को) नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वयं क्लेश उठाने से (मनुष्य को) सब संपत्तियां मिलती हैं।

दुर्गतिर्नीचता मौर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया ।
तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः ॥१२७॥

अपने लिए उन्नति की जिस इच्छा से दुर्गति, अवज्ञा और मूर्खता मिलती है, उसी (इच्छा) का दूसरों में संक्रमण करने से सुगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती हैं।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वाद्यनुभूयते ।
परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते ॥१२८॥

अपने के लिए दूसरे को आज्ञा देकर (उस कर्म के फलरूप में) दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। दूसरे के लिए इसे (=निज को) आज्ञा देकर (उस कर्म के फलरूप में) प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है।

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्य सुखेच्छया ॥१२९॥

संसार में जो कोई दुःखी हैं, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में जो कोई सुखी हैं, वे परकीय सुखेच्छा के कारण।

बहुना वा किमुक्तेन दृश्यतामिदमन्तरं ।
स्वार्थार्थिनश्च बालस्य मुनेश्चान्यार्थकारिणः ॥१३०॥

अधिक कहने से क्या? स्वार्थ परायण अज्ञानी और परोपकारी ज्ञानी में इस अन्तर को देखो (एक दुःखी है, दूसरा सुखी)।

न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखं ।
स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ॥१३१॥

दूसरे के दुःख से अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती फिर संसार में सुख ही कहां ?

आस्तां तावत्परो लोको दृष्टो ऽप्यर्थो न सिध्यति ।
भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनो ऽददतो भृतिं ॥१३२॥

परलोक की बात रहने दो। काम न करने वाले नौकर का और नौकरी न देने वाले स्वामी का ऐहिक अर्थ भी सिद्ध नहीं होता ।

त्यक्त्वान्योन्यसुखोत्पादं दृष्टादृष्टसुखोत्सवं ।
अन्योन्यदुःखनाद् घोरं दुःखं गृह्णंति मोहिताः ॥१३३॥

परस्पर सुख पहुंचाना लोक और परलोक में सुखोत्सव मनाना है, उसे छोड़ मूढ़ लोग एक दूसरे को दुःख देकर घोर दुःख पाते हैं ।

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ॥१३४॥

संसार में जो उपद्रव होते हैं, जितने दुःख और भय हैं, वे सब आत्म परिग्रह से होते हैं । इसलिए इस परिग्रह से मेरा क्या ?

आत्मानपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥१३५॥

बिना आत्म परित्याग किये दुःख का परित्याग नहीं हो सकता, जैसे बिना अग्नि का परित्याग किये दाह का परित्याग नहीं हो सकता ।

तस्मात् स्वदुःखशान्त्यर्थं परदुःखशमाय च ।
ददाम्यन्येभ्य आत्मानं परान् गृह्णामि चात्मवत् ॥१३६॥

इसलिए अपने और पराये की दुःख शांति के लिए दूसरों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ और दूसरों को आत्म-तुल्य ग्रहण करता हूँ ।

अन्यसंबद्धमस्मीति निश्चयं कुरु मे मनः ।
सर्वसत्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ॥१३७॥

हे मन! "मैं दूसरे का बंधुआ हूँ" यह निश्चय कर। सकल-प्राणि-हित करना छोड़ अब तुझे और कुछ नहीं सोचना है ।

न युक्तं स्वार्थदृष्ट्यापि तदीयैश्चक्षुरादिभिः ।
न युक्तं स्पन्दितुं स्वार्थमन्यदीयैः करादिभिः ॥१३८॥

दूसरे के नेत्र आदि से अपने स्वार्थ के लिए देखना भी ठीक नहीं है। दूसरे के हाथ आदि से अपने स्वार्थ के लिए हिलना भी ठीक नहीं है ।

तेन सत्त्वपरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।
तत्तदेवापहृत्यास्मात् परेभ्यो हितमाचर ॥१३९॥

इसलिए प्राणि (हित) परायण होकर इस शरीर में जो-जो देखता है उस उस को इससे छीन कर दूसरों का हित कर ।

हीनादिष्वात्मतां कृत्वा परत्वमपि चात्मनि ।
भावयेर्ष्यां च मानं च निर्विकल्पेन चेतसा ॥१४०॥

हीन आदि में अपनापन कर और अपने को पराया भी मान, मन में संकल्प-विकल्प न करके, ईर्ष्या और मान की भावना कर ।

एष सत्क्रियते नाहं, लाभी नाहमयं यथा ।
स्तूयते ऽयमहं निन्द्यो, दुःखितो ऽहमयं सुखी ॥१४१॥

इसका सत्कार होता है, मेरा नहीं । जैसा यह लाभी है, (वैसा) मैं नहीं । इसकी स्तुति होती है, मेरी निन्दा, । यह सुखी है, मैं दुःखी ।

अहं करोमि कर्माणि, तिष्ठत्येष तु सुस्थितः ।
अयं किल महान् लोके, नीचोऽहं किल निर्गुणः ॥१४२॥

मैं काम करता हूँ, यह आराम से बैठा है । यह लोक में महान् है, मैं नीच हूँ, निर्गुणी हूँ ।

किं निर्गुणेन कर्तव्यं स्व(क)स्यात्मा गुणान्वितः ।
सन्ति ते येष्वहं नीचः सन्ति ते येष्वहं वरः । ॥१४३॥

मैं निर्गुणी क्या अपने आपको गुणी बना सकूंगा ? वे भी हैं, जिनमें मैं हीन हूँ । वे भी हैं जिनमें मैं उच्च हूँ ।

शीलदृष्टिविपत्त्यादि क्लेशशक्त्या न मद्वशात् ।
चिकित्स्योऽहं यथाशक्ति पीडाप्यङ्गीकृता मया ॥१४४॥

शील-विपत्ति, दृष्टि-विपत्ति आदि* क्लेशों † की शक्ति से होती हैं, उन पर मेरा वश नहीं । मैं चिकित्सा के योग्य हूँ और यथाशक्ति पीड़ा सहना भी मुझे मंजूर है ।

अथाहमचिकित्स्योऽस्य कस्मान्मामवमन्यते ।
किं ममैतद्गुणैः कृत्यमात्मा तु गुणवानयं ॥१४५॥

यदि इससे मेरी चिकित्सा नहीं हो सकती तो (यह) मेरी अवज्ञा क्यों करता है ? इसके गुणों से मेरा क्या ? यह अपने आप गुणी हो तो हुआ करे ।

दुर्गतिव्याडवक्त्रस्थे नैवास्य करुणा जने ।
अपरान् गुणमानेन पंडितान् विजिगीषते ॥१४६॥

दुर्गति रूप सर्प के मुंह में पड़ी दुनिया के ऊपर इसे दया नहीं आती (फिर भी) गुण के मान से यह दूसरे पंडितों को जीतना चाहता है।

*शीलविपत्ति–दुराचरण; दृष्टिविपत्ति–मिथ्यादृष्टि ।
†क्लेश-राग, द्वेष, मोह आदि ।

संममात्मानमालोक्य यतेत्स्वाधिक्यवृद्धये ।
कलहेनापि संसाध्यं लाभसत्कारमात्मनः ॥१४७॥

अपने को यदि दूसरों के बराबर देखे तो स्वयं और बढ़ने का यत्न करना चाहिए । कलह के द्वारा भी (यदि) लाभ और सत्कार अपने को (मिले तो उसका) उपाय करना चाहिए ।

अपि सर्वत्र मे लोके भवेयुः प्रकटा गुणाः ।
अपि नाम गुणा येऽस्य न श्रोष्यन्त्यपि केचन ॥१४८॥

लोक में सब जगह (यदि) मेरे गुण प्रकट हो जायें (तो) इसके जो गुण हैं, उन्हें कोई सुनेगा भी नहीं ।

छाद्येरन्नपि मे दोषाः स्यान्मे पूजास्य नो भवेत् ।
सुलब्धा अद्य मे लाभाः पूजितोऽहमयं न तु ॥१४९॥

मेरे दोष गुप्त रहें । मेरी पूजा हो, इसकी न हो । आज मुझे लाभ है–सुलाभ है । मैं पूजित हूँ, यह नहीं ।

पश्यामो मुदितास्तावच्चिरादेनं खलीकृतं ।
हास्यं जनस्य सर्वस्य निन्द्यमानमितस्ततः ॥१५०॥

चिर के बाद (आज) हम इसे सब लोगों से इधर-उधर तिरस्कृत, उपहसित और निन्दित देख रहे हैं (तथा) प्रसन्न हो रहे हैं ।

अस्यापि हि वराकस्य स्पर्धा किल मया सह ।
किमस्य श्रुतमेतावत् प्रज्ञा रूपं कुलं धनं ॥१५१॥

इसका पांडित्य, बुद्धि, रूप, कुल और धन क्या इतना है कि इस बेचारे को भी मेरे साथ स्पर्धा हो ।

एवमात्मगुणान् श्रुत्वा कीर्त्यमानानितस्ततः ।
संजातपुलको हृष्टः परिभोक्ष्ये सुखोत्सवं ॥१५२॥

इस प्रकार जहां-तहां अपने गुणों का बखान सुनकर प्रसन्न और रोमांचित हो सुखोत्सव का भोग करूंगा ।

यद्यप्यस्य भवेल्लाभो ग्राह्यो ऽस्माभिरसौ बलात् ।
दत्वाऽस्मै यापनामात्रमस्मत्कार्यं करोति चेत् ॥१५३॥

सुखाच्च च्यावनीयो ऽयं योज्यो ऽसद्व्यथया सदा ।
अनेन शतशः सर्वे संसारव्यथिता वयं ॥१५४॥

और यदि इसे लाभ हो तो बलपूर्वक हमें उसे छीन लेना है । यदि हमारा काम करता है तो गुजारा भर देकर इसे सुख नहीं लेने देना है (तथा) सदा कठोर दुःख देना है इसी ने सैकड़ों बार हम सबको संसार में सताया है ।

अप्रमेया गताः कल्पाः स्वार्थं जिज्ञासतस्तव ।
श्रमेण महतानेन दुःखमेव त्वयार्जितं ॥१५५॥

स्वार्थ की जिज्ञासा करते-करते अपरिमित कल्प बिताये । इस महान् श्रम से तूने दुःख ही कमाया ।

मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि प्रवर्तस्वाविचारतः ।
द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् पश्चाद् भूतं हि वचनं मुनेः ॥१५६॥

उसी प्रकार मेरे कहने से बिना विचार किये इस (बोधिचर्या) में भी लग जाओ, तब इसके गुण देखोगे । भगवान् का वचन यथार्थ ही होता है ।

अभविष्यदिदं कर्म कृतं पूर्वं यदि त्वया ।
बौद्धं संपत्सुखं मुक्त्वा नाभविष्यदियं दशा ॥१५७॥

यदि तूने पहले यह काम किया होता, तो बोधि की संपत्ति का सुख (ही होता, उसे) छोड़ यह दशा न होती ।

तस्माद्यथान्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।
चकर्थ त्वमहंकारं तथान्येष्वपि भावय ॥१५८॥

इसलिए जैसे दूसरे के रजोवीर्य बिन्दुओं में तूने आत्मभाव किया है वैसे ही दूसरों (के शरीरों) में भी (आत्मभाव की) भावना कर ।

अन्यदीयश्चरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।
तत्तदेवापहृत्यार्थं परेभ्यो हितमाचर ॥१५९॥

दूसरों का सेवक हो इस काया में जो जो वस्तु देख उस उस को छीन कर दूसरों का हित कर ।

अयं सुस्थः परो दुस्थो नीचैरन्यो ऽयमुच्चकैः ।
परः करोत्ययं नेति कुरुष्वेर्ष्यां त्वमात्मनि ॥१५०॥

यह अच्छी दशा में है, दूसरा बुरी दशा में है । यह उच्च है, दूसरा नीच है । यह नहीं करता, दूसरा करता है । इस प्रकार (सोच) तू अपने ऊपर ईर्ष्या कर ।

सुखाच्च च्यावयात्मानं परदुःखे नियोजय ।
कदायं किं करोतीति छलमस्य निरूपय ॥१६१॥

अपने को सुख से अलग रख (और) दूसरों के दुःख (दूर करने) में लगा । "यह कब क्या करता है" यह (देखते हुए) इसके छल को भांपता रह ।

अन्येनापि कृतं दोषं पातयास्यैव मस्तके ।
अल्पमप्यस्य दोषं च प्रकाशय महाजने ॥१६२॥

दूसरे के किये दोष को भी इसके ही मत्थे मढ़ और इसके थोड़े से भी दोष का दुनिया में ढिंढोरा पीट ।

अन्याधिकयशोवादैर्यशोऽस्य मलिनीकुरु ।
निकृष्टदासवच्चैनं सत्त्वाकार्येषु वाहय ॥१६३॥

दूसरों के नाम का ऊंचा नारा लगा कर इसके नाम पर कालिख पोत। नीच दास की भांति इसे प्राणियों के (सेवा-) कार्य में जोत।

नागन्तुकगुणांशेन स्तुत्यो दोषमयो ह्ययं ।
यथा कश्चिन्न जानीयाद् गुणमस्य तथा कुरु ॥१६४॥

आरोपित गुणों के अंश द्वारा इस दोषमय की स्तुति न करना। और ऐसा कर जिसम इसके गुणों को कोई न जान पाये ।

संक्षेपाद्यद्यदात्मार्थे परेष्वपकृतं त्वया ।
तत्तदात्मनि सत्त्वार्थे व्यसनं विनिपातय ॥१६५॥

संक्षेप से अपने हित दूसरों का जो जो बुरा किया है, वह वह बुराई प्राणिहित अपने ऊपर डाल ।

नैवोत्साहो ऽस्य दातव्यो येनायं मुखरो भवेत् ।
स्यात्त्वो नववधूवृत्तो ह्रीतो भीतोऽथ संवृतः ॥१६६॥

इसे उत्साह न देना कि यह बक बक करे । नई बहू की भांति इसे सलज्ज, सभीत कर परदे में रख।

एवं कुरुष्व तिष्ठैवं न कर्तव्यमिदं त्वया ।
एवमेष वशः कार्यो निग्राह्यस्तदतिक्रमे ॥१६७॥

"ऐसा कर, इस तरह बैठ, तुझे यह न कहना चाहिए" इस प्रकार (शासन द्वारा) इसे वश में करना चाहिए। वैसा न करने पर दंड देना चाहिए।

अथैवमुच्यमानेऽपि चित्त नेदं करिष्यसि ।
त्वामेव निग्रहीष्यामि सर्वदोषास्त्वदाश्रिताः ॥१६८॥

हे चित्त ! यों कहने पर भी यदि तू यह न करेगा तो तुझे दण्ड दूंगा। सब दोषों का अड्डा तू है ।

क्व यास्यसि मया दृष्टः सर्वदर्पान् निहन्मि ते ।
अन्यो ऽसौ पूर्वकः कालस्त्वया यत्रास्मि नाशितः ॥१६९॥

कहां जायगा, मैंने देख लिया, तेरा सब घमंड चूर किये देता हूँ। वह पहले का समय और ही था जब तूने मेरा सत्यानाश किया।

अद्याप्यस्ति मम स्वार्थ इत्याशां त्यज सांप्रतं
त्वं विक्रीतो मयान्येषु बहुखेदमचिन्तयन् ॥१७०॥

'अब भी मेरा (तुझसे कुछ) स्वार्थ है,—इस आशा को अब छोड़ दे। मैंने (तेरी) बहुत सी तकलीफों का ख्याल न कर, तुझे दूसरों के हाथ बेच डाला है।

त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि यदि नाम प्रमादतः ।
त्वं मां नरकपालेषु प्रदास्यसि न संशयः ॥१७१॥

यदि प्रमादवश मैं तुझे प्राणियों को नहीं सौंपता तो तू मुझे निःसंदेह नरकपालों के हवाले कर देगा ।

एवं चानेकधा दत्वा त्वयाहं व्यथितश्चिरं ।
निहन्मि स्वार्थचेटं त्वां तानि वैराण्यनुस्मरन् ॥१७२॥

इस प्रकार अनेक बार देकर, तूने मुझे सताया है । उन वैरों का स्मरण कर तेरी स्वार्थ के दास की गत बनाए बिना न रहूँगा ।

न कर्तव्यात्मनि प्रीतिर्यद्यात्मप्रीतिरस्ति ते ।
यद्यात्मा रक्षितव्योऽत्रं रक्षितव्यो न युज्यते ॥१७३॥

यदि तुझे अपने से प्रेम है, तो अपने से प्रेम न करना । इस आत्मा को यदि बचाना है, तो (यही) उचित है (कि इसे) न बचाया जाए ।

यथा यथास्य कायस्य क्रियते परिपालनं ।
सकुमारतरो भूत्वा पतत्येव तथा तथा ॥१७४॥

जैसे जैसे इस काया का पालन किया जाता है वैसे वैसे सुकुमार होकर यह पतित होती जाती है ।

अस्यैवं पतितस्यापि सर्वापीयं वसुन्धरा ।
नालं पूरयितुं वांछा तत्को ऽस्येच्छां करिष्यति ॥१७५॥

यह समूची धरती भी इस प्रकार इस पतित की इच्छा पूरी नहीं कर सकती । फिर कौन इसकी इच्छा करेगा ?

अशक्यमिच्छतः क्लेश आशाभंगश्च जायते ।
निराशो यस्तु सर्वत्र तस्य संपदजीर्णका ॥१७६॥

अलभ्य की इच्छा करने से क्लेश होता है, आशा टूटती है । जो सर्वत्र निराश है, उसकी संपत्ति घटती नहीं ।

तस्मान्न प्रसरो देयः कायस्येच्छाभिवृद्धये ।
भद्रकं नाम तद्वस्तु यदिष्टत्वान्न गृह्यते ॥१७७॥

इसलिए काया की इच्छा बढ़ाने का अवसर न देना । उसी वस्तु से कल्याण होता है, जिस पर प्रेमासक्ति नहीं होती ।

भस्मनिष्ठावसानेयं निश्चेष्टान्येन चाल्यते ।
अशुचिप्रतिमा घोरा कस्मादत्र ममाग्रहः ॥१७८॥

अपवित्रता की यह भयंकर प्रतिमा (देह) जिसका अन्त भस्म निष्ठा है, जो (स्वयं) चेष्टा रहित है और किसी दूसरे के द्वारा सचेष्ट होती है, उसमें मेरा आग्रह क्यों ?

किं मयानेन यन्त्रेण जीविना वा मृतेन वा ।
लोष्टादेः को विशेषो ऽस्य हाहंकार न नश्यसि ॥१७९॥

इस जीवित या मृत यंत्र से मेरा क्या ? इसकी ढेले आदि से क्या विशेषता ? हा ! अहंकार ! तू नष्ट नहीं होता ।

शरीरपक्षपातेन वृथा दुःखमुपार्ज्यते ।
किमस्य काष्ठतुल्यस्य द्वेषेणानुनयेन वा ॥१८०॥

शरीर का पक्षपात कर बेकार दुःख कमाया जाता है । काष्ठ के समान इस शरीर का राग-द्वेष से क्या ?

मया वा पालितस्यैवं गृध्राद्यैर्भक्षितस्य वा ।
न च स्नेहो न च द्वेषस्तस्मात्स्नेहं करोमि किं ॥१८१॥

इस प्रकार मैं पालूं या गिद्ध आदि खायें, इसे राग-द्वेष नहीं । फिर मैं क्यों स्नेह करूं ।

रोषो यस्य खलीकारात् तोषो यस्य च पूजया ।
स एव चेन्न जानाति श्रमः कस्य कृते नु मे ॥१८२॥

जिसके तिरस्कार से (हमें) रोष और पूजा से संतोष होता है, वह (स्वयं) ही यदि नहीं जानता तो मेरा यह श्रम किसलिए ?

इमं ये कायमिच्छन्ति तेऽपि मे सुहृदः किल ।
सर्वे स्वकायमिच्छन्ति तेऽपि कस्मान्न मे प्रियाः ॥१८३॥

जो इस (मेरे) शरीर को चाहते हैं, वे मेरे प्रिय हैं। सब अपने शरीर को चाहते हैं, वे भी मेरे प्रिय क्यों नहीं ?

यस्मान्मयानपेक्षेण कायस्त्यक्तो जगद्धिते ।
अतोऽयं बहुदोषोऽपि धार्यते कर्मभाण्डवत् ॥१८४॥

अतः मैंने अनासक्ति के साथ यह शरीर जगत् के हित के लिए दे डाला है, अतः बहुत दोषयुक्त होने पर भी कर्मोपकरण की भांति मैं इसे धारण कर रहा हूँ ।

तेनालं लोकचरितैः पंडितानतुयाम्यहं ।
अप्रमादकथां स्मृत्वा स्त्यानमिद्धं निवारयन् ॥१८५॥

इसलिए दुनिया का चलन रहे एक ओर, मैं तो अप्रमादकथा* का स्मरण कर स्त्यान-मिद्ध** को दूर करते हुए पंडितों की राह पकड़ता हूँ ।

तस्मादावरणं हन्तुं समाधानं करोम्यहं ।
विमार्गाच्चित्तमाकृष्य स्वालंबननिरंतरं ॥१८६॥

इसलिए (क्लेश के) आवरण का नाश करने के लिए, चित को असन्मार्ग से खींच, (ध्यान के) आलंबन में निरंतर लगा समाधिस्थ करता हूँ ।

---

*अप्रमादकथा की अनुशंसा के लिए धम्मपद का अप्पमादवग्ग अट्ठ कथा के साथ द्रष्टव्य है । **स्त्यान=शरीर और मन का भारीपन । मिद्ध—तंद्राभिभूतता ।

नवम परिच्छेद

प्रज्ञापारमिता

(इस परिच्छेद में शून्यवाद का प्रतिपादन है । शून्यता शब्द का बौद्ध साहित्य में नाना भाव से प्रयोग हुआ है। पर शून्यवाद के प्रतिपादक माध्यमिकों ने इसे दो अर्थों में लिया है । कभी-कभी वे शून्यता को हेतु प्रत्ययसापेक्षता के अर्थ में लेते हैं । जैसा कि नागार्जुन का कथन है—"यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।"* इस अर्थ में गृहीत शून्यता के द्वारा जब माध्यमिक विश्व की चर्चा करते हैं तब उन्हें वह निःसार, निःस्वभाव एवं मायामय प्रतीत होता है। जो अपनी सिद्धि के लिए हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। उस अपने आप में असिद्ध विश्व का स्वभाव या सार हो ही क्या सकता है? कभी-कभी माध्यमिक लोग शून्यता शब्द का प्रयोग निष्प्रपंचता के अर्थ में करते हैं । जो निष्प्रपंच है उसे शब्दों के प्रपंच द्वारा कहना कठिन क्या असंभव है। वह तत्त्वज्ञानियों के साक्षात्कार की वस्तु अवश्य है पर वचन से प्रकाश करने की वस्तु नहीं । इसीलिए उसे अनक्षर-तत्त्व** कहा गया है। इस अर्थ में शून्यता निर्वाण का ही नाम है× । यही परमार्थ, यही परम पुरुषार्थ है, यही तत्त्व है, यही परम तत्त्व है । यह तत्त्व प्रत्यात्मवेद्य है, शांतिरूप है, निष्प्रपंच है, निर्विकल्प है, अचिन्त्य है, नानाभावरहित है, अविभाज्य तत्त्व है + । इन्हीं दो अर्थों में शून्यता का ग्रहण कर माध्यमिक व्यवहार और परमार्थ की चर्चा करते हैं तथा अपने रहस्य के अनुसार उसे कभी

---

* यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां पचक्ष्महे । सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥ (माध्यमिक कारिका) ।

जो प्रतीत्य समुत्पाद है उसी को हम शून्यता कहते हैं । वही उपदाय प्रज्ञप्ति कहलाती है । और उसी का नाम मध्यमा प्रतिपदा है ।

** अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का। श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः ॥ (बोधिचर्यावतार पंजिका पृष्ठ ३६५ पर उद्धृत। माध्यमिक वृत्ति १५ । २ की टीका में "चार्थ" के स्थान में "चापि" पाठान्तर के साथ उद्धृत)

× कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः । ते प्रपंचात् प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥ (माध्यमिक कारिका १८ । ५) शून्यतैव सर्वप्रपंचनिवृतिलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते । (माध्यमिकवृत्ति पृष्ठ ३७३)

+ अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितं । निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणं । (माध्यमिककारिका १८। ९)

तथता, कभी भूतकोटि, कभी धर्मधातु कहते हैं। उसी को उन्होंने तथागत का धर्मकाय, बुद्धता, धर्मता और बोधि कहा है * ।)

दुःखनिवृत्ति का उपाय : प्रज्ञा

इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ ।
तस्मादुत्पादयेत्प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकांक्षया ॥१॥

इस सब (शील-समाधि आदि) सामग्री को तथागत ने प्रज्ञा के लिए (साधन के रूप में) कहा है । इसलिए दुःख दूर करने की इच्छा से (मनुष्य को) चाहिए कि प्रज्ञा को उत्पन्न करे ।

दो सत्य : व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतं ।
बुद्धेरगोचरस्तत्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥२॥

व्यवहार सत्य तथा परमार्थ सत्य ये दो सत्य हैं । (परमार्थ सत्य जो कि निष्प्रपंच) तत्त्व है, बुद्धि का विषय नहीं बनता । (यह प्रपंच-विषयक जो) बुद्धि है उसी का नाम व्यवहार सत्य है ।

दो प्रकार के लोग : साधारण और रहस्यवादी

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा ।
तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥३॥
बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः ।

उन (व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य) में (अधिकारी) लोग दो प्रकार के देखे जाते हैं। (व्यवहार सत्य के अधिकारी लोग) साधारण होते हैं और (परमार्थ सत्य के अधिकारी लोग) योगी अर्थात् रहस्यवादी होते हैं। रहस्यवादी साधारण लोगों को प्रमाण नहीं मानते । योगियों में जो अधिक पहुँच वाले होते हैं वे (अपने से) कम पहुँच वालों को (अपने) विशेष ज्ञान के कारण प्रमाण नहीं मानते ।

बाह्यजगत् की मायामयता

दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारतः ॥४॥
लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्त्वतः ।
न तु मायावदित्यत्र विवादो योगिलोकयोः ॥५॥

(साधारण और योगी) दोनों द्वारा अभिमत (स्वप्न, इन्द्रजाल आदि के) दृष्टान्त द्वारा (जगत् की मायामयता सिद्ध होती है† और उस मायामय जगत् में अपने) कार्य की सिद्धि के लिए (लोग) अविचार-पूर्वक (प्रवृत्त होते हैं) । दुनिया (सब) पदार्थों को देखती है और

---

* पंजिका पृष्ठ ३५४ तथा ४२१ पर इस अभिप्राय की ओर संकेत है ।

† भाव यह है कि जैसे स्वप्न मिथ्या होता है वैसे ही जगत् भी मिथ्या है । दोनों में अन्तर इतना ही है कि स्वप्न क्षणिक होता है और जगत् तदपेक्षा स्थायी होता है ।

उन्हें परमार्थ में वैसा ही मानती है पर उन्हें मायामय नहीं समझती---यही योगियों के साथ दुनिया का झगड़ा है।

प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणतः।
अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥६॥

रूप आदि जिनका (इन्द्रियों द्वारा) प्रत्यक्ष होता है (और उन्हें दुनिया जैसा समझती है, उनका वैसा समझना) रूढ़ि* के कारण है, प्रमाण के कारण नहीं। वह अशुचि आदि में शुचि आदि की प्रसिद्धि के समान + भ्रम ही है।

[अभिप्राय यह है कि जो जैसा दिखायी देता है यदि वह वैसा ही हो तो साधारण लोगों और तत्त्ववादियों में अन्तर नहीं रह जाता तथा तत्त्ववाद की चर्चा निरर्थक हो जाती है -- "इन्द्रियैरुपलब्धं यत् तत् तत्त्वेन भवेद् यदि। जातास्तत्त्वविदो बालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा॥" अतः जगत् के विषय में जो जनसाधारण का विचार होता है वही तत्त्वज्ञानियों का विचार नहीं होता। तथा तत्त्वज्ञानियों में भी तारतम्य रहता है।]

लोकावतारणार्थं हि भावा नाथेन देशिताः।
तत्त्वतः क्षणिका नैते, संवृत्या चेद्, विरुध्यते ॥७॥

न दोषो योगिसंवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिनः।
अन्यथा लोकबाधा स्याद् अशुचिस्त्रीनिरूपणे ॥८॥

[प्रश्न---स्वप्नवत् जगत् जब मिथ्या ही हुआ, तब उसका स्कन्ध आदि के द्वारा निरूपण करना तथा उसे क्षणिक† कहने आदि का अर्थ क्या? प्रतिवचन--[भगवान् ने दुनिया का (शून्यता में) प्रवेश कराने के लिए (स्कन्ध आदि) पदार्थों की देशना की है। परमार्थ में वे क्षणिक नहीं हैं। [प्रश्न] (परमार्थ से न सही) संवृति से तो क्षणिक हैं? [प्रतिवचन] यह तो उलटी बात हुई (संवृत्ति से पदार्थ क्षणिक कहां? वे तो अनेकों क्षणों तक स्थिर दिखाई पड़ते हैं)। पर यह (दोष) दोष नहीं है। योगि-संवृत्ति से (पदार्थ क्षणिक माने जाते हैं क्योंकि) वे साधारण लोगों से अधिक तत्त्वज्ञानी होते हैं (और उन्हीं के व्यवहार से) स्त्री को अशुचि कहा जाता है यद्यपि यह भी लोकव्यवहार के विरुद्ध (ही) है।

सर्वास्तिवादियों के आक्षेप और उनका समाधान

मायोपमाज्जिनात्पुण्यं सद्भावेऽपि कथं यथा।
यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः ॥९॥

---

*लोकप्रथा, लोकप्रवाद।

+ व्यवहार में इस प्रकार के भ्रमों को सत्य मानकर स्मृतियां चर्चा करती हैं। जैसे "मुखजा विप्रुषो मेध्याः =मुंह से निकले छींटे पवित्र होते हैं" [याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय]। इस भ्रम को बौद्ध परिभाषा में विपर्यास (पालि 'विपल्लास') कहते हैं।

† क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव उच्यते ॥ [पंजिका]

यावत्प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते ।
दीर्घसंतानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति तत्त्वतः ॥१०॥

[आक्षेप] (जब सब जगत् ही मायामय है तब बुद्ध भी मायामय हुए) भला मायामय बुद्ध (की पूजा से) पुण्य कैसे ? [प्रत्याक्षेप] परमार्थ बुद्ध की पूजा से भी पुण्य कैसे ?* [प्रश्न] यदि जीव मायोपम है तो मर कर उसका पुनर्जन्म क्यों ? [प्रतिवचन] माया भी तब तक बनी रहती है जब तक उसकी कारण सामग्री रहा करती है (वह चाहे क्षणभर रहे और चाहे चिरकाल तक रहे) । केवल चिरकाल तक संसार में रहने के कारण जीव किसी भी तरह वास्तविक नहीं हो सकता ।

मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकं ।
चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भवः ॥११॥

[आक्षेप--जैसे एन्द्रजालिक पुरुष की हत्या में पाप नहीं लगता वैसे लौकिक पुरुष की हत्या में पाप नहीं लगना चाहिए क्योंकि दोनों ही मायामय हैं ? समाधान--] मायापुरुष चित्तहीन होता है इसलिए उसकी हत्या में पाप नहीं लगता । (जो पुरुष) चित्तरूपी माया से युक्त है (उसके साथ यथावसर) पाप भी लग सकता है और पुण्य भी हो सकता है । (किं च)

मंत्रादीनामसामर्थ्यान्न मायाचित्तसंभवः।
सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसंभवा ॥१२॥

नैकस्य सर्वसामर्थ्यं प्रत्ययस्यास्ति कुत्र चित् ।

मंत्र आदि में यह शक्ति नहीं होती कि उनसे माया-चित्त की उत्पत्ति हो सके (क्योंकि) वह माया भी नानाप्रकार की होती है और नाना प्रत्ययों से उत्पन्न हुआ करती है । किसी एक ही प्रत्यय में यह शक्ति नहीं होती कि उससे सब कुछ उत्पन्न हो सके ।

निर्वृतः परमार्थेन संवृत्या यदि संसरेत् ॥१३॥
बुद्धोऽपि संसरेदेवं ततः किं बोधिचर्यया ।
प्रत्ययानामनुच्छेदे मायाप्युच्छिद्यते न हि ॥१४॥
प्रत्ययानां तु विच्छेदात् संवृत्यापि न संभवः ।

[आक्षेप] (जिनके लिए संसार कुछ है ही नहीं--सर्वथा माया ही माया है वे वस्तुतः संसारी नहीं कहे जा सकते पर व्यवहार में उनका संसरण देखा जाता

* पंजिकाकार अभिप्राय को विशद करते हुए कहते हैं--जिसके मत में बुद्ध वास्तविक हैं उसके मत में उनकी पूजा से वास्तविक पुण्य होता है और जिसके मत में बुद्ध मायामय हैं उसके मत में पुण्य मायामय होता है। दोनों में भेद कुछ नहीं। पुण्य और बुद्ध पूजा के बीच हेतुप्रत्ययसापेक्षता का नियम दोनों ही स्थानों पर है। "यथा कस्यचित् परमार्थसतो जिनात् परमार्थसत् पुण्यं जायते। तथान्यस्य मायोपमात् मायोपमम् । ...इति...न कश्चिद् विशेषः। इदं प्रत्ययतामात्रस्योभयसाधारणत्वात्।" [पंजिका पृष्ठ ३८०]

है अतएव) यदि परमार्थ में निर्वृत अर्थात् असंसारी व्यवहार में संसारी हो जाए तो बुद्ध भी इस प्रकार संसारी हो जाएंगे फिर बोधिचर्या से क्या ?

[समाधान] जब तक प्रत्ययों का उच्छेद नहीं होता तब तक माया भी उच्छिन्न नहीं होती । और जब प्रत्ययों का उच्छेद हो गया तब संवृति से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

विज्ञानवादियों के आक्षेप और उनका समाधान

यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते ॥१५॥

यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते ।
चित्तस्यैव स आकारो यद्यप्यन्यो ऽस्ति तत्त्वतः ॥१६॥

चित्तमेव यदा माया तदा किं केन दृश्यते ।
उक्तं हि लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति ॥१७॥

न छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः ।

[आक्षेप] (सब जगत् के मायामय होने के कारण माध्यमिकों के मत में) भ्रान्ति अर्थात् माया-ग्राहिका बुद्धि भी असत् ठहरी तब माया की उपलब्धि किससे ?

[प्रत्याक्षेप] (तुम विज्ञानवादी एकमात्र चित्त को सत् मानते हो सो तुम्हारे मत म) जब माया है ही नहीं तो किसी की उपलब्धि होने की बात ही क्या ?

[विज्ञानवादी का समाधान] वह (माया) चित्त ही का आकार है (और बाहर दिखाई पड़ने से भीतर के चित्त से) वस्तुतः पृथक् (जान पड़ती) है ।

[माध्यमिक का आक्षेप] जब (विज्ञानवादी के मत के अनुसार) चित्त ही माया ठहरा तब दृश्य कौन और द्रष्टा कौन ? भगवान् ने कहा है कि चित्त चित्त को नहीं देखता । जैसे तलवार अपने आप को नहीं काटती वैसे मन (अपने आपको नहीं देखता) ।

[यहां पंजिकाकार ने आर्य-रत्नचूड़-सूत्र का उद्धरण दिया है । उपरोक्त कारिका से संबद्ध सूत्र का अंश यों है--" न हि चित्तं चितं समनुपश्यति । तद्यथा । न तयैवासिधारया सैवासिधारा शक्यते छेत्तुं......... एवमेव तेनैव चित्तेन तदेव चित्तं द्रष्टुं (न शक्यते)=चित्त चित्त को नहीं देखता है (यहां दृष्टान्त है) । जैसे उसी तलवार की धार से वही तलवार की धार नहीं काटी जा सकती वैसे उसी चित्त से वही चित्त नहीं देखा जा सकता ।]

आत्मभावं यथा दीपः संप्रकाशयतीति चेत् ॥१८॥

नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः ।
न हि स्फटिकवन्नीलं नीलत्वे ऽन्यमपेक्षते ॥१९॥

तथा किंचित् परापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते ।
अनीलत्वे न तन्नीलं नीलहेतुर्यपेक्ष्यते ॥२०॥

नीलमेव हि को नीलं कुर्यादात्मानमात्मना ।
अनीलत्वे न तन्नीलं कुर्यादात्मानमात्मना ।।२१।।

[विज्ञानवादी] जैसे दीप अपने आपको प्रकाशित करता है (वैसे चित्त अपने आपको देखता है) ।

[माध्यमिक] (विज्ञानवादी का दृष्टान्त ठीक नहीं) दीप प्रकाशित नहीं होता क्योंकि (प्रकाशन उसी वस्तु का होता है जो पहले से छिपी हुई हो और दीप) अंधकार (आदि) से छिपा नहीं होता (कि उसका प्रकाशन हो) ।

[विज्ञानवादी] कोई वस्तु सापेक्ष होती है और कोई निरपेक्ष । जैसे नील अपनी नीलिमा के लिए (निरपेक्ष है उसे) स्फटिक की भांति (अपने को नीला करने के लिए) दूसरा (नील पदार्थ) नहीं चाहिए ।

[माध्यमिक] उस नील (पदार्थ) को नीलहेतु नहीं माना जाता जो नील-गुण रहित हो । जो स्वयं नील है उसे उसके अपने ही द्वारा कौन (फिर) नीला कर सकता है (और) वह नील (पदार्थ) जो नीलगुणरहित है अपने से अपने आपको नीला नहीं बना सकता । (अतः जैसे नील स्फटिक को नील-हेतु की अपेक्षा होती है वैसे नील को भी नीलहेतु की अपेक्षा होती है) । (इसके अतिरिक्त)--

दीपः प्रकाशत इति ज्ञात्वा ज्ञानेन कथ्यते ।
बुद्धि प्रकाशत इति ज्ञात्वेदं केन कथ्यते ।।२२।।

प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केन चित् ।
वन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुधा ।।२३।।

"दीप (स्वयं) प्रकाशित होता है"--यह चित्त से जानकर कहा जाता है ।" चित्त प्रकाशित होता है" यह किससे जानकर कहा जाता है ?" (चित्त स्वयं) प्रकाश है या नहीं " (यह बात) किसी द्रष्टा के अभाव में चाहे जितनी कही जाए वह वन्ध्या-पुत्री के विलास की भांति मिथ्या है ।

यदि नास्ति स्वसंवित्तिर्विज्ञानं स्मर्यते कथं ।
अन्यानुभूते संबन्धात् स्मृतिराखुविषं यथा ।।२४।।

[विज्ञानवादी] यदि विज्ञान (चित्त) का स्वसंवेदन न हो तो उसकी स्मृति कैसे ?

[माध्यमिक] (यतः ज्ञान और ज्ञेय विषय का ग्राह्यग्राहक) संबंध होता है अतः विषय* का अनुभव होने पर (ज्ञान का) स्मरण होता है। इसमें दृष्टान्त मूषिक-विष है (जो जिस क्षण शरीर में प्रविष्ट होता है जान नहीं पड़ता पर मेघगर्जन से प्रकुपित होकर जान पड़ता है क्योंकि मूषिक-विष और मेघ-गर्जन का प्रकोप्य-प्रकोपक संबंध होता है) ।

---

* मूल में अन्य--विज्ञानेतर अर्थात् ज्ञेय विषय ।

प्रत्ययान्तरयुक्तस्य दर्शनात् स्वं प्रकाशते ।
सिद्धाञ्जनविधेर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत् ।।२५।।

[विज्ञानवादी] यतः (ऋद्धिमान् लोगों को) प्रत्ययान्तरयुक्त अर्थात् भिन्न देशकालादि में स्थित विज्ञान (=चित्त) का दर्शन (=साक्षात्कार) होता है अतः (यह मानना ही पड़ेगा कि विज्ञान का स्वयं-संवेदन होता है ।

[माध्यमिक] सिद्धांजन के उपाय से (धरती में गड़ा हुआ खजाने का) घड़ा दिखाई पड़ जाए तो उसे सिद्धांजन नहीं कहा जा सकता । (इसी प्रकार ऋद्धि के द्वारा जिस विज्ञान से जिस विज्ञान का साक्षात्कार होता है वे दोनों एक नहीं हैं। उनमें एक विषय होता है और दूसरा विषय-विज्ञाता। विषय और उसका विज्ञाता दोनों एक नहीं हो सकते।) †

यथा दृष्टं श्रुतं ज्ञातं नैवेह प्रतिषिध्यते
सत्यतः कल्पनात्वत्र दुःखहेतुर्निवार्यते ।।२६।।

(लोक-व्यवहार में) जो जैसा देखा-सुना-समझा जाता है उसका यहां निषेध नहीं। केवल उसमें परमार्थ की कल्पना (जो लोगोंने कर ली हैं) उसका निषेध है क्योंकि वह दुःख का हेतु है ।

चित्तादन्या न माया चेन्नाप्यनन्येति कल्प्यते ।
वस्तु चेत् सा कथं नान्या ऽनन्या चेन्नास्ति वस्तुतः ।।२७।।

असत्यपि यथा माया दृश्या द्रष्टृ तथा मनः ।

(विज्ञानवादियों की) कल्पना के अनुसार माया और चित्त एक नहीं हैं और न माया चित्त से पृथक् ही है। पर माया यदि परमार्थ सत् होती तो पृथक् क्यों न होती ? यदि (माया चित्त से) अभिन्न मानी जाये (तब तो स्पष्ट ही है कि वह) परमार्थ सत् नहीं । जैसे माया परमार्थ सत् न होने पर भी दृश्य प्रतीत होती है वैसे ही द्रष्टा मन भी (परमार्थ सत् नहीं है फिर भी द्रष्टा प्रतीत होता है) ।

वस्त्वाश्रयश्चेत् संसारः सोऽन्यथाकाशवद् भवेत् ।।२८।।

वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्वं कथं भवेत् ।
असत्सहायमेकं हि चित्तमापद्यते तव ।।२९।।

ग्राह्यमुक्तं यदा चित्तं तदा सर्वे तथागताः ।
एवं हि को गुणो लब्धश्चित्तमात्रे ऽपि कल्पिते ।।३०।।

---

† पंजिकाकार ने यहां पर एक बड़ा ही सुंदर श्लोक उद्धृत किया है :—
न बोध्यबोधकाकारं चित्तं दृष्टं तथागतैः ।
यत्र बोद्धा च बोध्यं च तत्र बोधिर्न विद्यते ।।
तथागतों की दृष्टि में चित्त बोध्यस्वरूप और बोधकस्वरूप (दोनों ही अर्थात् उभय लक्षण) नहीं है। जहां बोधक और बोध्य होते हैं वहां बोधि नहीं होती।

[विज्ञानवादी] इस संसार का आधार कोई परमार्थसत् (पदार्थ) होना चाहिए (और वह पदार्थ सत् पदार्थ चित्त के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है?) यदि ऐसा न माना जाए तो उसे आकाश जैसा (शून्य) ठहराना होगा। फिर जिसका आधार कोई परमार्थ सत् पदार्थ नहीं है उससे (अर्थ-सिद्धि कर) कार्य कैसे हो सकता है?

[माध्यमिक] तुम (विज्ञानवादियों के मत में) एकमात्र चित्त ही (परमार्थ सत्) है। साथ में दूसरा कोई (परमार्थ सत् पदार्थ) नहीं है। (इस प्रकार) जब चित्त ग्राह्य (–ग्राहक भाव आदि से) मुक्त सिद्ध हुआ तब सभी (प्राणी) तथागत ही हो गए (और आर्यमार्ग भावना की आवश्यकता न रही) एवं चित्रमात्रता (=विज्ञप्तिमात्रता=विज्ञानमात्रता) की कल्पना से क्या लाभ हुआ?

मायोपमत्वे ऽपि ज्ञाते कथं क्लेशो निवर्तते।
यदा मायास्त्रियां रागस्तत्कर्तुरपि जायते ॥३१॥

अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना।
तद्दृष्टिकाले तस्यातो दुर्बला शून्यवासना ॥३२॥

शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना।
किंचिन्नास्तीति चाभ्यासात्सापि पश्चात्प्रहीयते ॥३३॥

[विज्ञानवादी] (जगत् को) मायोपम जानने पर भी क्लेश-निवृत्ति कैसे हो सकती है जब कि मायास्त्री के निर्माता का उसमें राग हो जाता है।

[माध्यमिक] उस (माया) स्त्री के निर्माता में ज्ञेयावरण † की वासना बनी रहती है इसीलिए उस (मायास्त्री रूपी पदार्थ के) दर्शन के समय शून्यता की वासना में बल नहीं होता। (पर) शून्यता की वासना जब स्थिर हो जाती है तब वह (मायामय ज्ञेय पदार्थों को) भाव अर्थात् परमार्थ सत् समझने की वासना नष्ट हो जाती है। और वह (शून्यता–वासना) भी किसी (आलंबन) के न होने के कारण अभ्यासवश बाद में नष्ट हो जाती है।

यदा न लभ्यते भावो यो नास्तीति प्रकल्प्यते।
तदा निराश्रयो भावः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः ॥३४॥

जिस भाव का निषेध कल्पित किया जाता है, वह जब (निःस्वभाव होने के कारण) नहीं मिलता तब वह भाव बिना आश्रय के मति के संमुख कैसे ठहर सकता है?

यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः।

---

† ज्ञेयावरण (मूल ज्ञेयसंक्लेश)—ज्ञेय पदार्थ जो मायामय हैं, उन्हें परमार्थ समझने का नाम ज्ञेयावरण है, क्योंकि उससे ज्ञेय पदार्थ का जो वास्तविक रूप निःस्वभावता है, उस पर परदा पड़ जाता है।

तदान्यगत्यभावेन निरालंबा प्रशाम्यति ॥३५॥

जब बुद्धि के सामने भाव और अभाव (दोनों ही) नहीं रहते तब (उसके सामने) और कोई गति नहीं होती (कि वह स्वयं ठहर सके। इसलिए अन्त में) आलंबन न होने के कारण (वह भी) शांत हो जाती है।

शून्यवाद में बुद्ध पूजा का फल

चिन्तामणिः कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरणः।
विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनबिम्बं तथेक्ष्यते ॥३६॥

जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष मनोरथ सफल करते हैं वैसे ही विनेय * और प्रणिधान ** से युक्त तथागत का काय भी (मनोरथ सफल करते) देखा जाता है।

यथा गारुडिकः स्तंभं साधयित्वा विनश्यति।
स तस्मिश्चिरनष्टे ऽपि विषादीनुपशाम्यति ॥३७॥

बोधिचर्यानुरूपेण जिनस्तंभो ऽपि साधितः।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वे ऽपि निर्वृते ॥३८॥

जैसे विषमंत्रज्ञ (मंत्रों द्वारा) स्तंभ को सिद्ध कर स्वयं मर जाता है पर उसके मरने के चिर बाद तक भी वह (स्तंभ) विष आदि की शांति करता रहता है। (उसी प्रकार) बोधिचर्या की अनुरूपता से सिद्ध किया गया जिनस्तंभ भी बोधिसत्त्व का निर्वाण हो जाने पर भी (प्राणिहित के) सब कार्य करता रहता है।

अचित्तके कृता पूजा कथं फलवती भवेत्।
तुल्यैव पठ्यते यस्मात् तिष्ठतो निर्वृतस्य च ॥ ३९ ॥

[आक्षेप] चित्त-हीन (केवल प्रतिमा अथवा स्तूप के रूप में की गई बुद्ध की) पूजा कैसे फलदायक हो सकती है (जब कि पूजा का ग्रहण करने वाला कोई है ही नहीं। [समाधान] यतः (शास्त्र में) जीवित और परिनिर्वृत (दोनों प्रकार के बुद्धों की पूजा के फल का) समान भाव से प्रतिपादन है, (अतः इस प्रकार के आक्षेप का अवकाश ही कहां ?)

आगमाच्च फलं तत्र संवृत्या तत्त्वतो ऽपि वा।
सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा ॥ ४० ॥

जैसे कि सत्य बुद्ध अर्थात् जीवित बुद्ध की पूजा से फल होता है (वैसे ही परिनिर्वृत बुद्ध की पूजा से भी) फल होता है। यह बात आगम से सिद्ध है भले ही वह (फल) परमार्थ सत् हो या व्यवहार सत्।

---

* विनेय--विनय के योग्य पात्र, शिक्षार्ह।

** प्रणिधान--(प्राणिहितार्थ) संकल्प।

आगम-प्रामाण्य

सत्यदर्शनतो मुक्तिः शून्यतादर्शनेन किं ।
न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः ॥ ४१ ॥

[सर्वास्तिवादी] मुक्ति सत्यदर्शन से होती है *। शून्यतादर्शन से क्या ?

[माध्यमिक] इस (शून्यतादर्शन के) मार्ग के बिना बोधि-लाभ नहीं होता। ऐसा चूंकि आगम (में कहा) है (इसलिए शून्यतादर्शन सप्रयोजन है)। **

नन्वसिद्धं महायानं, कथं सिद्धस्त्वदागमः ।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसो तवादितः ॥ ४२ ॥

यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु ।
अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥ ४३ ॥

[सर्वास्तिवादी] महायान (-आगम) प्रमाणभूत नहीं है।

[माध्यमिक] आपका आगम प्रमाणभूत कैसे ?

[सर्वास्तिवादी] क्योंकि उसे (हम) दोनों प्रमाण मानते हैं।

[माध्यमिक] आपका आगम भी (जब हम दोनों ने माना था तब से) पूर्व प्रमाणभूत न था। जिन कारणों से उसे प्रमाण माना जाता है उन्हीं कारणों से महायान (आगम) को भी प्रमाण मानना चाहिए (और आगम को प्रमाण मानने म चार ही कारण हैं--वह अर्थ का होना चाहिए, अनर्थ का नहीं; वह धर्म का होना चाहिए, अधर्म का नहीं; उसे क्लेशनाशक होना चाहिए, क्लेशवर्द्धक नहीं; उसे शांति (निर्वाण) की महिमा बतानी चाहिए और अशांति (संसार) की महिमा घटानी चाहिए †। अभिप्राय यह है कि उसे सुभाषित होना चाहिए और जो भी सुभाषित ह वह सब बुद्धवचन ही है ×।) और यदि (इस पारस्परिक विवाद के कारण) हम दोनों के अतिरिक्त औरों को जो इष्ट

---

* क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात् (अभिधर्म कोश ६। १a-b)

** "स भावः एषोऽहम्" इति द्वयोरन्तयोः सक्तः । यश्च द्वयोरन्तयोः सक्तः, तस्य नास्ति मोक्षः। [पंजिका (में उद्धृत प्रज्ञापारमितावचन) पृष्ठ ४२८]।

† चतुर्भिः कारणैः प्रतिभानं सर्वबुद्धभाषितं वेदितव्यं । कतमैश्चतुर्भिः। इह प्रतिभानमर्थोपसंहितं भवति नानर्थोपसंहितं। धर्मोपसंहितं भवति नाधर्मोपसंहितं। क्लेशप्रहायकं भवति न क्लेशविवर्धकं। निर्वाणगुणानुशंसदर्शकं भवति न संसारगुणानुशंसदर्शकं। [पंजिका पृष्ठ ४२१--२२]

× यत् किंचित् सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्। [वही पृष्ठ ४२२]

है उसे प्रमाण माना जाए तो वेद आदि को भी प्रमाण मानना होगा ।

सविवादं महायानम्, इति चेदागमं त्यज ।
तीर्थिकैः सविवादत्वात्स्वैः परैश्चागमान्तरं ।। ४४ ।।

शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता ।
सावलंबनचितानां निर्वाणमपि दुःस्थितं ।। ४५ ।।

क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा ।
दृष्टं च तेषु सामर्थ्यं निःक्लेशस्यापि कर्मणः ।। ४६ ।।

तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत् संप्रधार्यते ।
किमक्लिष्टापि तृष्णापि नास्ति संमोहवत् सती ।। ४७ ।।

वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनषां च विद्यते ।
सालंबनेन चित्तेन स्थातव्यं यत्र तत्र वा ।। ४८ ।।

[सर्वास्तिवादी] महायान (–आगम का प्रामाण्य) विवादग्रस्त है ।

[माध्यमिक] यदि ऐसी बात है तो (अपने) आगम का त्याग करो क्योंकि उस पर तीर्थिकों (अबौद्धों) को विवाद है । (और नानानिकायभिन्न दूसरे बौद्ध) आगमों को (भी छोड़ो) क्योंकि स्वकीय और परकीय (निकायों का एक दूसरे से तथा एक ही निकाय में भी अवान्तर भेदों के कारण विवाद रहता ही है) । (इस प्रकार जिस) भिक्षुता अर्थात् भिन्नक्लेशता † को जड़ पर धर्म (का वृक्ष स्थित) है वही जब उखड़ गई अर्थात् शून्यता दर्शन के बिना जब क्लेश की हानि न हो सकी (और) चित्त (किसी न किसी) आलंबन में बंधा रह गया तब निर्वाण भी असंभव ही रहा । (इसके अतिरिक्त सत्य दर्शन के द्वारा) क्लेशों का नाश होने से मुक्ति होती है––यदि ऐसा मान भी लें तो उस (मुक्ति) को तदनन्तर अर्थात् क्लेशनाश के अनन्तर ही होना चाहिए (पर वह होती नहीं, क्योंकि अर्हत् अंगुलिमाल और महामोद्गल्यायन आदि को) क्लेशरहित भी कर्म का फल भोगते देखा गया है । (किं च) निश्चय से यह मानना कि (अर्हतों में) तृष्णा जो कि उपादान (–पुनर्जन्म का कारण) है, नहीं रहती (ठीक नहीं) । (क्योंकि इन अर्हतों में क्लेशरहित अज्ञान की भांति क्या क्लेशरहित

---

† भिक्षु शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां हैं––भयमीक्षते इति भिक्षुः । भिक्षते इति भिक्षुः । भिन्नक्लेश इति भिक्षुः इत्यादि । यहां भिन्नक्लेश इति भिक्षुः––यह व्युत्पत्ति अभिप्रेत है ।

तृष्णा भी नहीं रहती ? (अवश्य रहती है। क्योंकि) वेदना के कारण तृष्णा होती है और इन (अर्हतों को) वेदना होती है। (अतः जब तृष्णा नष्ट न हुई तब) चित्त को (किसी न किसी) आलंबन से (बंधकर) जहां-तहां रहना ही होगा (फिर मुक्ति कहां ?)। (अतः मुक्तिसाधन होने से महायान-आगम की प्रमाणता संदेह से परे है)।

शून्यता की सप्रयोजनता

विना शून्यतया चित्तं बद्धमुत्पद्यते पुनः।
यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत्तेन शून्यतां ॥ ४९ ॥

शून्यता (-भावना) के बिना चित्त बंधा रहता है (अतएव) उसका संतान (समाधि में रुक कर) फिर चलने लगता है जैसा कि असंज्ञिसमापत्ति * में (चित्त चैतसिक धर्मनिरुद्ध हो जाते हैं पर समाधि भंग होते ही उनका संतान फिर चलने लगता है) अतएव (चित्तसंतान के पूर्ण निरोध के लिए) शून्यता की भावना करनी चाहिए।

यत् सूत्रे ऽवतरेद् वाक्यं तच्चेद् बुद्धोक्तमिष्यते।
महायानं भवत्सूत्रैः प्रायस्तुल्यं न किं मतं ॥ ५० ॥
एकेनागम्यमानेन सकलं यदि दोषवत्
एकेन सूत्रतुल्येन किं न सर्वं जिनोदितं ॥ ५१ ॥
महाकाश्यपमुख्यैश्च यद् वाक्यं नावगाह्यते।
तत्त्वयानवबुद्धत्वादग्राह्यं कः करिष्यति ॥ ५२ ॥

जो वाक्य सूत्र में होता है, वही यदि बुद्धवचन है तो महायान(-सूत्र) जो प्रायः आपके सूत्रों जैसे हैं उन्हें (बुद्धवचन के रूप में प्रमाण) क्यों नहीं मानते? एक असंगति के कारण यदि सबको असंगत माना जाए तो समूचे बुद्धवचन को एक सूत्र के समान क्यों नहीं मानते ? जिस (बुद्ध-) वचन को महाकाश्यप प्रमुख (अर्हत्) न समझ सके, वह यदि तुम्हारी समझ में न आए तो (इतने भर से) उसे कौन अग्राह्य मानेगा ?

प्रज्ञाकरमति की टिप्पणी

[ये तीन श्लोक किसी के द्वारा प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि विषय के अनुसार ठीक स्थान में नहीं हैं। शास्त्र की प्रमाणता- अप्रमाणता पर इनमें विचार किया गया है, जिस विवाद का कि 'शासनं भिक्षुता' (९। ४५-४८) आदि में निरूपण हो चुका है। और यतः यहां तो दूसरा ही प्रसंग (अर्थात् शून्यता भावना का प्रयोजन) चल रहा था अतः इन (श्लोकों) को पहले ही कहना चाहिए था। पर एक विषय समाप्त कर दूसरे विषय का निरूपण करना

* एक समाधि जिसमें चित्त सर्वथा निष्क्रिय रहता है,। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ३। ४१-४२।

तथा फिर उसे छोड़ कर पुराने विषय का आरंभ करना ग्रंथकार की कुशलता नहीं प्रकट करता। (किं च) यत्प्रत्यय-आदि (९।४३,४४) दो श्लोकों में जिस बात को कहा गया था, उसी को यहां दोहराया गया है (अतः पुनरुक्ति दोष भी है)। (इसके अतिरिक्त) "महाकाश्यपमुख्यैः" इस श्लोक में अश्लीलता है (क्योंकि एक महान् पुरुष पर आक्षेप है) । इस प्रकार निश्चय ही ये श्लोक ग्रन्थकार की रचना नहीं हैं। अतः यह (अंश) क्षेपक ही है।]

सक्तित्रासान्तनिर्मुक्त्या * संसारे सिध्यति स्थितिः ।
मोहेन दुःखिनामर्थे शून्यताया इदं फलं ॥ ५३ ॥

शून्यता का (ही) यह फल है कि (बोधिसत्त्व) व्यवहार (सत्य के आश्रय) द्वारा दुःखियों के निमित्त संसार में रहता है (पर वह स्वयं) आसक्ति के अन्त से मुक्त होता है (क्योंकि उसे किसी नित्य की कल्पना नहीं होती जिसमें आसक्त हो) और त्रास के अन्त से (भी) मुक्त होता है (क्योंकि वह उच्छेद की कल्पना नहीं करता, जिससे उसे भय हो । एवं वह दोनों अन्तों में न फंस मध्यमा प्रतिपत् का ही अभ्यास करता है) ।

तदेवं शून्यतापक्षे दूषणं नोपपद्यते ।
तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता ॥ ५४॥

क्लेशज्ञेयावृतितमः प्रतिपक्षो हि शून्यता ।
शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथं ॥ ५५ ॥

यद् दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात्प्रजायतां ।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयं ॥ ५६ ॥

इस प्रकार शून्यता के पक्ष में दोष मढ़ना युक्ति-संगत नहीं। अतः ननु-नच छोड़कर शून्यता की भावना करनी ही चाहिए। शून्यता क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के अन्धकार को नाश करती है। जिसे सर्वज्ञता प्राप्त करने की इच्छा है वह इसकी भावना क्यों नहीं करता? जिस वस्तु से दुःख होता हो उससे कोई डरे तो डरे पर शून्यता तो दुःख को दूर करती है उससे भय खाना कैसा?

अहंकार का विषय

(१) शरीर अहंकार का विषय नहीं

यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किं चन ।
अहमेव न किंचिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति ॥ ५७ ॥
दन्तकेशनखा नाहं नास्थि नाप्यस्मि शोणितं ।
न शिंघानं न च श्लेष्मा न पूयं लसिकापि वा ॥ ५८ ॥

* पाठान्तर--सक्तित्रासात्रनिर्मुक्त्या। इस पाठ को मान कर प्रकरणानुकूल अर्थ नहीं बैठता । पंजिकाकार के सामने दोनों पाठ थे। भोटानुवाद, 'सक्तित्रासान्त-निर्मुक्त्या' पाठ को मानकर किया गया है।

नाहं वसा न च स्वेदो न मेदो ऽन्त्राणि नाप्यहं ।
न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी गूथमूत्रमहं न च ॥ ५९ ॥

नाहं मांसं न च स्नायु नोष्मा वायुरहं न च ।
न च छिद्राण्यहं नापि षड् विज्ञानानि सर्वथा ॥ ६० ॥

यदि मैं कुछ होऊं तो जिस किसी से भय हो सकता है। यदि मैं ही कुछ नहीं, तो भय किसे होगा? मैं दांत, केश, नख नहीं हूं। अस्थि नहीं हूँ। लहू भी नहीं हूँ। नकमैल नहीं हूँ और थूक नहीं हूँ। पीव नहीं हूँ, (घाव की) लस भी नहीं हूँ। मैं वसा नहीं हूँ और स्वेद नहीं हूँ। मेद नहीं हूँ। मैं आंतें भी नहीं हूँ। और मैं अंत्रनिर्गुंडी नहीं हूँ। मैं मल और मूत्र नहीं हूँ। मैं मांस नहीं हूँ। नस नहीं हूँ। गर्मी नहीं हूं। और मैं वायु नहीं हूँ। मैं छिद्र नहीं हूँ और न किसी प्रकार छह विज्ञान हूँ।

(२) ज्ञान अर्थात् चेतन अहंकार का विषय नहीं

शब्दज्ञानं यदि तदा शब्दो गृह्येत सर्वदा ।
ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति येन ज्ञानं निरुच्यते ॥ ६१ ॥
अजानानं यदि ज्ञानं काष्ठं ज्ञानं प्रसज्यते ।
तेनासंनिहितज्ञेयं ज्ञानं नास्तीति निश्चयः ॥ ६२ ॥
तदेव रूपं जानाति तदा किं न शृणोत्यपि ।
शब्दस्यासंनिधानाच्चेत् ततस्तज्ज्ञानमप्यसत् ॥ ६३ ॥
शब्दग्रहणरूपं यत् तद्रूपग्रहणं कथं ।
एकः पिता च पुत्रश्च कल्प्यते न तु तत्त्वतः ॥ ६४ ॥
सत्त्वं रजस्तमो वापि न पुत्रो न पिता यतः ।
शब्दग्रहणयुक्तस्तु स्वभावस्तस्य नेक्षते ॥ ६५ ॥
तदेवान्येन रूपेण नटवत् सो ऽप्यशाश्वतः ।
स एवान्यस्वभावश्चेदपूर्वेयं तदेकता ॥ ६६ ॥
अन्यद्रूपमसत्यं चेन्निजं तद्रूपमुच्यतां ।
ज्ञानता चेत् ततः सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते ॥ ६७ ॥
चेतनाचेतने चैक्यं तयोर्येनास्तिता समा ॥
विशेषश्च यदा मिथ्या कः सादृश्याश्रयस्तदा ॥ ६८ ॥

[माध्यमिक] (अहंकार का विषय ज्ञान नहीं है। कल्पना कीजिए कि) शब्दज्ञान अहंकार का विषय है पर (यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा होता) तो सदा शब्द सुन पड़ना चाहिए था (ज्ञान उसे कहते हैं जो किसी ज्ञेय या ज्ञातव्य विषय को जाने) जब ज्ञेय नहीं तब जानने के लिए रहा ही क्या कि (हम) ज्ञान को (ज्ञान) कहें। यदि ज्ञान बिना (कुछ) जाने ही (बना) रहे तब तो काठ भी ज्ञान हो सकेगा। अतः निश्चय से ज्ञान (कभी भी) ज्ञेय से असंबद्ध नहीं रहता। (ज्ञान, जो शब्द

जानता है) वही जब रूप जानने लगता है तब सुनता क्यों नहीं? यदि (वह शब्द ज्ञान) शब्द के पास में न होने के कारण नहीं सुनता तो वह असत् (ही) है। जो (ज्ञान) शब्दग्राही वह रूपग्राही कैसे?

[सांख्यानुयायी] (जैसे) एक (व्यक्ति किसी के संबंध से) पिता और (किसी के संबंध से) पुत्र होता है (उसी प्रकार एक ही ज्ञान शब्द के संबंध से शब्दग्राही और रूप के संबंध से रूपग्राही होता है।

[माध्यमिक] यह कल्पना ही ठहरी तत्त्व (परमार्थ) की बात न हुई। (क्योंकि तुम सांख्य मत वालों के विचार से परमार्थ रूप में जो) सत्त्व, रजस्, तमस् तत्त्व हैं वे न तो पिता हैं और न पुत्र। (किं च जो ज्ञान रूपग्राही) है उसका स्वभाव शब्द-ग्राही नहीं प्रतीत होता। (यदि) वही (शब्दज्ञान) नट की भांति बहुरूपिया बनकर (रूपग्राही भी माना जाए तो) उसे अनित्य मानना पड़ेगा (क्योंकि वह नियत स्वभाव वाला न रहा)। उसी (एक ज्ञान में) स्वभाव-भेद माना जाए तो यह एकता अपूर्व (ही) हुई (जिसे कदाचित् ही कोई समझ सके)।

[सांख्यानुयायी] (ज्ञान एक है। उसे जब शब्द या रूप आदि की उपाधियों से युक्त देखते हैं तब वह उपाधियुक्त जिस दूसरे रूप को ग्रहण करता है वह) दूसरा रूप सत्य नहीं होता।

[माध्यमिक] यदि ऐसा मानो तो बताओ कि उसका अपना रूप क्या है? यदि 'ज्ञानता' को (उसका अपना रूप मानो) तो सब पुरुषों (=आत्माओं) में (भेद न रहने से) वे एक हो गईं (अनेक न रहीं, पर आत्माएं तुम्हारी तत्त्वचर्या में हैं अनेक)। (किं च इस युक्तिवाद के ढंग पर हम) चेतन और अचेतन को भी एक (कह सकते हैं) क्योंकि दोनों में अस्तित्व (-नामक) समान (धर्म) पाया जाता है। (पर) जब विशेष मिथ्या ही हुआ तो समानता ठहरेगी कहां? (अर्थात् भेद होने पर ही सादृश्य संभव है। भेद के मिथ्या होने से सब कुछ एक ही हो जाएगा फिर प्रकृति-पुरुष आदि विभाग संभव ही कैसे होगा? एवं ज्ञान-स्वरूप आत्मा अहंकार का विषय नहीं हो सकता)।*

अचेतन अहंकार का विषय नहीं

अचेतनश्च नैवाहमाचैतन्यात् पटादिवत्।
अथ ज्ञश्चेतनायोगादज्ञो नष्टः प्रसज्यते ॥ ६९ ॥

*यह समूचा ऊहापोह सांख्य मत के अनुसार आत्मा को ज्ञानस्वरूप या चेतन मानकर किया गया है।

अथाविकृत एवात्मा चैतन्येनास्य किं कृतं ।
अज्ञस्य निष्क्रियस्यैवमाकाशस्यात्मता मता ॥ ७० ॥

न कर्मफलसंबन्धो युक्तश्चेदात्मना विना ।
कर्म कृत्वा विनष्टे हि फलं कस्य भविष्यति ॥ ७१ ॥

द्वयोरप्यावयोः सिद्धे भिन्नाधारे क्रियाफले ।
निर्व्यापारश्च तत्रात्मेत्यत्र वादो वृथा ननु ॥ ७२ ॥

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष संभवः ।
संतानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितं ॥ ७३ ॥

[माध्यमिक] अहं (कार का विषय) अचेतन (भी) नहीं है, जैसे कि वस्त्र आदि अचेतन होने के कारण (ही अहंकार का विषय नहीं होते) ।

[नैयायिक] चेतना के योग से (अचेतन आत्मा भी) ज्ञाता होता है (अतः वस्त्र आदि की भांति नहीं है कि अहंकार का विषय न बन सके। क्योंकि वस्त्र आदि में चेतना कभी भी नहीं देखी जाती ।

[माध्यमिक] (यह ठीक नहीं क्योंकि मूर्छा आदि में आत्मा) ज्ञाता नहीं होता है (अतः वह चेतना का योग न होने से उसे) नष्ट मानना होगा ।

[नैयायिक] आत्मा के नष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह सदा अविकारी ही रहता है ।

[माध्यमिक] (यह ठीक नहीं) क्योंकि जब आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता तब चैतन्य उसका कर ही क्या सकता है (=उसे ज्ञाता बना ही कैसे सकता है)? इस प्रकार तो आकाश को भी आत्मा मानना पड़ेगा क्योंकि (तुम नैयायिकों के आत्मा की भांति ही वह) निकम्मा और ज्ञानहीन है ।

[नैयायिक] (कर्म और उसके फल को तुम बौद्ध लोग भी मानते हो पर आत्मा नहीं मानते) बिना आत्मा के कर्म और फल किसी में बंध सकें यह संभव नहीं। क्योंकि कर्म करके (क्षणिक् होने के कारण जब कर्ता) नष्ट हो गया तो फल होगा ही किसे ?

[माध्यमिक] हम दोनों के (मत में) कर्म और फल एक आधार में नहीं सिद्ध होते (क्योंकि हमारे यहां कर्ता क्षणिक् हो है, जो कर्म करता है, वह भोगता नहीं। और तुम्हारे यहां

कर्म करने वाला शरीर है। जो शरीर कर्म करता है वह शरीर (परलोक में अथवा यहां फिर जन्म लेकर) फल नहीं भोगता)।

[नैयायिक] (शरीर के भिन्न-भिन्न होने पर भी आत्मा तो वही रहता है। वह एक शरीर में कर्ता है और दूसरे शरीर में भोक्ता। अतः हमारे मत में कर्म और फल का आधार एक ही है।)

[माध्यमिक] (तुम्हारे मत में) आत्मा तो निष्क्रिय होता है, अतः (उसके कर्ता या भोक्ता की) बात चलाना व्यर्थ ही है। (हां, हमारे मत में क्षण-क्षण बदलने वाले जीव का जो) संतान अर्थात् प्रवाह है,उसको एक मान लेने से (एक आधार में) कर्ता और भोक्ता होना कहा जा (सकता) है। (वस्तुतः) हेतु-मान् (=कर्ता) और फलयोगी (=भोक्ता) का (एक होना) संभव नहीं दीखता।†

विज्ञानवादियों के अनुसार चित्त को परमार्थ सत् मानने पर भी वह अहंकार का विषय नहीं हो सकता।

अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धि न विद्यते।
अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन् नास्त्यहं पुनः ॥ ७४ ॥

यथैव कदलीस्तंभो न कश्चिद् भागशः कृतः।
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः ॥ ७५ ॥

यदि सत्त्वो न विद्यते कस्योपरि कृपेति चेत्।
कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पितः ॥ ७६ ॥

कार्यं कस्य न चेत् सत्त्वः सत्यमीहा तु मोहतः।
दुःखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते ॥ ७७ ॥

दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते।
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद् वरं नैरात्म्यभावना ॥ ७८ ॥

[माध्यमिक] (विज्ञानवादियों के अनुसार चित्त को परमार्थ मान लेने पर भी) चित्त जो अतीत का है तथा जो अनागत का है वह अहंकार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो वस्तुतः है ही नहीं। रही बात वर्तमान चित्त की (सो वह भी अहंकार का विषय हो नहीं सकता क्योंकि दूसरे क्षण में) जब वह निरुद्ध हो जाएगा (तो उसके साथ) अहंकार नहीं रहेगा। जैसे कदली-स्तंभ को उधेड़ते जाने

† यह समूचा विचार न्याय-वैशेषिक-संमत आत्मा को मानकर किया गया है। इनके मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं प्रत्युत ज्ञान का अधिकरण होता है।

पर अन्त में कुछ नहीं रहता, वैसे ही विचार से खोज करने पर "अहम्" भी कुछ नहीं ठहरता।

[प्रतिपक्षी] यदि (अहं अर्थात्) सत्त्व नहीं, तो (बोधिसत्त्व की) करुणा किस पर ?

[माध्यमिक] पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए मान लिये गये संवृति (-सत्य) के द्वारा जिस (सत्त्व की) कल्पना कर ली गयी है (उसी पर बोधिसत्त्व की करुणा होती है)।

[प्रतिपक्षी] जब सत्त्व है ही नहीं, तो पुरुषार्थ किसका ?

[माध्यमिक] सत्य (कहते हो, न कहीं कोई सत्त्व है और न उसका पुरुषार्थ) ! पर मोह के कारण (लोग पुरुषार्थ-सिद्धि में) प्रवृत्त होते हैं और पुरुषार्थ (=परमतत्त्वावबोध) के लिए (साधन-भूत) इस मोह का प्रयोजन यतः दुःखनिवृत्ति है अतः उसका निषेध (हम माध्यमिक लोग) नहीं करते।

[प्रतिपक्षी] पुरुषार्थसाधक मोह का जैसे निषेध नहीं करते, वैसे आत्मा का भी निषेध न करो (तो हमारा-तुम्हारा झगड़ा न रहेगा।)

[माध्यमिक] (ऐसा भी हम कर देते पर विवशता है क्योंकि) आत्म-मोह से अहंकार बढ़ता है और वही दुःख का कारण है (अतः दुःख के कारण को मार भगाना ही पड़ेगा)।

[प्रतिपक्षी] आत्मदर्शन से अहंकार दूर हो जाता है, अतः अहंकार दूर करने के लिए आत्मा के निषेध की आवश्यकता नहीं।)

[माध्यमिक] उस (आत्मदर्शन) से भी (अहंकार की) निवृत्ति संभव नहीं है (आत्मदृष्टि होने से आत्मस्नेह तथा परद्वेष होगा। और कभी भी अहंता और ममता से पिंड नहीं छूटेगा) अतः (अहंकार दूर करने का उपाय) नैरात्म्य भावना से बढ़ कर (और कोई) नहीं है।

कायस्मृत्युपस्थान

कायो न पादौ न जंघा नोरू कायः कटिर्न च।
नोदरं नाप्ययं पृष्ठं नोरो बाहू न चापि सः ॥ ७९ ॥

न हस्तौ नाप्ययं पार्श्वौ न कक्षौ नांसलक्षणः।
न ग्रीवा न शिरः कायः कायो ऽत्र कतरः पुनः ॥ ८० ॥

न पैर काय है, न जांघ। न उरु काय है और न कटि। न उदर काय है, न पीठ। न वक्षस्थल काय है, न उदर और न बाहू। न हाथ काय है न पसली न कांख, और न कंधा (ही काय-) लक्षण (वाला) है। न गर्दन काय है न शिर। तब यहां काय कौन है ? *

* जो शब्द मूल में द्विवचन हैं उनका यहां एक वचन में अनुवाद किया गया है। तथा "अयं" जो यहां कायद्योतक है, उसका काय शब्द से।

प्रसंगवश अवयवी की समीक्षा

[नैयायिक अवयवों से भिन्न, उन्हीं अवयवों में समवाय संबंध से स्थित एक अवयवी की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार काय एक अवयवी है, जो अपने अवयव हाथ इत्यादि से भिन्न है। यहां अवयवों और अवयवी की सह-स्थिति के संबंध में दो मत हो सकते हैं। प्रथम यह कि वह एक अवयवी अपने किसी एक अंश से अवयवों में रहता है। द्वितीय यह कि वह समूचा का समूचा एक अवयवी अवयवों में रहता है। ये दोनों मत सदोष हैं। क्योंकि--]

यदि सर्वेषु कायोऽयमेकेदेशेन वर्तते ।
अंशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥ ८१ ॥

सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कायः करादिषु ।
कायस्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादयः ॥ ८२ ॥

यदि सब (अवयवों) में (अपने) एक अंश से काय रहता है तो (उस काय के) अंश तो अवयवों में रहे पर वह स्वयं कहां रहा? यदि वह समूचा का समूचा काय सब हाथ आदि (अवयवों) में रहता है तो जितने हाथ आदि अवयव हुए उतने ही काय हुए। (फलतः अनेकत्व से घबरा कर एकत्व के मोह के कारण जिस अवयवी की कल्पना की वह अनेकत्व अवयवी को भी ले डूबा)।

नैवान्तर्न बहिः कायः कथं कायः करादिषु ।
करादिभ्यः पृथग् नास्ति कथं नु खलु विद्यते ॥ ८३ ॥

तन्नास्ति कायो मोहात्तु कायबुद्धिः करादिषु ।
संनिवेशविशेषेण स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत् ॥ ८४ ॥

(अतएव) भीतर (मांस रुधिर आदि) न काय है न बाहर (अवयवी ही काय सिद्ध हुआ) फिर हाथ आदि में काय (की प्रतिष्ठा) कैसे? इन (कारणों) से काय अस्तिसिद्ध † पदार्थ न ठहरा। भ्रमवश हाथ आदि में काय भातिसिद्ध पदार्थ (अवश्य) है जैसा कि थून्हें में आकार-प्रकार की विशेषता के कारण पुरुष का भातिसिद्ध* बोध होता है।

यावत् प्रत्ययसामग्री तावत् कायः पुमानिव ।
एवं करादौ सा यावत् तावत्कायोऽत्र दृश्यते ॥ ८५ ॥

जब तक कारण-सामग्री रहती है तब तक काय पुरुष (स्त्री आदि) जैसा

---

†अस्तिसिद्ध और भातिसिद्ध शब्दों का प्रयोग यहां वास्तविक और भ्रान्त के अर्थ में किया गया है। कूप का जल अस्तिसिद्ध है क्योंकि उससे नहाने-पीने आदि की अर्थक्रिया हो सकती है। मरीचिका का जल भातिसिद्ध है क्योंकि उससे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। लोक में जो सभी पदार्थ अर्थक्रियाकारी होने से अस्तिसिद्ध हैं, वे योगियों की दुनिया में भातिसिद्ध हैं, क्योंकि जिस शांति-प्राप्ति रूपी अर्थक्रिया को वे चाहते हैं, वह उनसे नहीं होती।

(प्रतीत) होता है। इसी प्रकार जब तक वह (कारण सामग्री) हाथ आदि में रहती है तब तक वहां काय देख पड़ता है।

(कायः पुमानिव के स्थान में काष्ठं पुमानिव पाठान्तर है। इसके अनुसार अर्थ यों होगाः--

जब तक कारण-सामग्री रहती है तब तक जैसे काठ (का थून्हा) पुरुष जान पड़ता है, वैसे ही हाथ आदि में जब तक वह (कारण-सामग्री) रहती है तब तक वहां काय दिखाई पड़ता है)।

प्रसंगवश परमाणुओं की समीक्षा

एवमंगुलिपुंजत्वात्पादोऽपि कतरो भवेत्।
सोऽपि पर्वसमूहत्वात् पर्वापि स्वांशभेदतः ॥ ८६ ॥

अंशा अप्यणुभेदेन सोऽप्यणुर्दिग्विभागतः।
दिग्विभागो निरंशत्वाद् आकाशं तेन नास्त्यणुः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार उंगलियों के समूह के अतिरिक्त पैर भी कौन सा है? वह (उंगलियों का समूह) भी पोरों के समूह के अतिरिक्त (कुछ नहीं है) और पोर भी अपने अवयव भागों के अतिरिक्त (कुछ नहीं है)। (पोर के) अंश परमाणुओं में बंट जाते हैं तथा परमाणु भी दिशाओं में विभक्त हो जाता है। दिग्विभाग आकाश या शून्य है क्योंकि उसका कोई अंश नहीं। अतः परमाणु असत् ही है।

एवं स्वप्नोपमे रूपे को रज्येत विचारकः।
कायश्चैवं यदा नास्ति तदा का स्त्री पुमांश्च कः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार इस स्वप्नोपम रूप में किस विचारवान् की आसक्ति हो सकती है? और इस प्रकार जब काय ही नहीं रहा तो कौन स्त्री और कौन पुरुष?

वेदनास्मृत्युपस्थान

यद्यस्ति दुःखं तत्त्वेन प्रहृष्टान् किं न बाधते।
शोकाद्यार्ताय मृष्टादि सुखं चेत् किं न रोचते ॥ ८९ ॥

यदि दुःख परमार्थसत् है तो जो मौज में है, उन्हें क्यों नहीं सताता? यदि सुख (परमार्थसत् है) तो जो शोक आदि से पीड़ित हैं उन्हें मृष्ट अर्थात् स्वादु पदार्थ आदि क्यों नहीं भाते?

बलीयसाभिभूतत्वाद् यदि तन्नानुभूयते।
वेदनात्वं कथं तस्य यस्य नानुभवात्मता ॥ ९० ॥

यदि वह (दुःख या सुख) प्रबल (सुख या दुःख) द्वारा दबा हुआ होने के कारण अनुभव में नहीं आता तो जो अनुभव में नहीं आता उसमें वेदनीयता अर्थात् अनुभूत होने की योग्यता कैसे?

अतिसूक्ष्मतया दुःखं स्थौल्यं तस्य हृतं ननु ।
तुष्टिमात्राऽपरा चेत् स्यात् तस्मात् साप्यस्य सूक्ष्मता ॥ ९१ ॥

(सुख के समय) दुःख अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहता है। केवल उसकी स्थूलता (=प्रबलता) चली जाती है। [यह ठीक नहीं क्योंकि दुःख की सूक्ष्मता का अनुभव सुखावस्था में नहीं होता] । यदि लवलेश सुख को (दुःख की सूक्ष्मता माना जाये (तो भी ठीक नहीं) क्योंकि वह तो (वस्तुतः) इस (सुख) की सूक्ष्मता हुई ।

विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ दुःखस्यानुदयो यदि ।
कल्पनाभिनिवेशो हि वेदनेत्यागतं ननु ॥ ९२ ॥

यदि विरुद्ध कारणों की उपस्थिति के कारण (सुखावस्था में) दुःख उत्पन्न नहीं होता तो (इससे अभिप्राय यह) निकला कि वेदना केवल (मन की) कल्पना का लगाव भर है ।

अतएव विचारोऽयं प्रतिपक्षो ऽस्य भाव्यते ।
विकल्पक्षेत्रसंभूतध्यानाहारा हि योगिनः ॥ ९३ ॥

इसीलिए इस (कल्पना के अभिनिवेश) के विरोधी विचार की यहां चर्चा है (क्योंकि विना कल्पना दूर हुए तत्त्वाधिगम नहीं होता) । [किं च] योगी ध्यानाहार अर्थात् ध्यान के प्रीति-सुख से जीते हैं (और वह ध्यानाहार) उत्पन्न होता है विकल्प अर्थात् कल्पना के क्षेत्र में (फलतः योगि-सुख मन की कल्पना ही है, अतः सांसारिक लोगों की वेदना की भांति योगियों की वेदना भी मन का खेल है। एवं सिद्ध हुआ कि वेदना कोई परमार्थसत् पदार्थ नहीं ।)

[वेदना केवल मन की कल्पना है, इस बात को प्रकारान्तर से सिद्ध करने के लिए वेदना की उत्पत्ति के कारणों का यहां खंडन करना है । मन, विषय ग्राहक इन्द्रिय तथा विषय इन तीनों के एकत्र होने से स्पर्श होता है और स्पर्श से वेदना होती है। इस त्रिकसन्निपात–स्पर्श–वेदना का कार्य कारण भाव संभव नहीं । क्योंकि --]

सान्तराविन्द्रियार्थौ चेत् संसर्गः कुत एतयोः ।
निरन्तरत्वे ऽप्येकत्वं कस्य केनास्तु संगतिः ॥ ९४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के बीच यदि अन्तर रहता है तो उनका संसर्ग कैसे ? यदि अन्तर नहीं रहता तो तब तो दोनों एक ही हो गये, फिर किसी से किसी का संयोग हो तो कैसे ?

नाणोरणौ प्रवेशो ऽस्ति निराकाशः समश्च सः ।
अप्रवेशे न मिश्रत्वममिश्रत्वे न संगतिः ॥ ९५ ॥

(पदार्थ परमाणुपुंज हैं और) परमाणु का परमाणु में प्रवेश संभव नहीं क्योंकि वह निरवकाश और निर्भाग होता है। प्रवेश के बिना मिलना संभव नहीं और बिना मिले संसर्ग संभव नहीं ।

निरंशस्य च संसर्गं कथं नामोपपद्यते ।
संसर्गे च निरंशत्वं यदि नाम निदर्शय ॥ ९६ ॥

निरवयव (पदार्थ) का संसर्ग हो ही कैसे सकता है ? यदि निरवयव के संसर्ग का दृष्टान्त हो तो उसे उपस्थित करो।

विज्ञानस्य त्वमूर्तत्वात् संसर्गो नैव युज्यते ।
समूहस्याप्यवस्तुत्वाद् यथा पूर्वं विचारितं ॥ ९७ ॥

मन निराकार है। उसका किसी से संसर्ग हो नहीं सकता। (दृश्यमान प्रत्येक साकार पदार्थ परमाणुओं का) समूह है और वह भी परमार्थसत् नहीं, जैसा कि पहले (९।८६, ८७) विचार कर चुके हैं।

तदेवं स्पर्शनाभावे वेदनासंभवः कुतः ।
किमर्थमयमायासः बाधा कस्य कुतो भवेत् ॥ ९८ ॥

इस प्रकार (मन, इन्द्रिय और अर्थ का परस्पर) संसर्ग संभव नहीं, फिर वेदना उत्पन्न हो तो कैसे ? (और जब वेदना ही नहीं रही तो) यह दौड़-धूप किस लिए ? (यहां) बाधा ही किसे किससे हो सकती है ?

यदा न वेदकः कश्चिद् वेदना च न विद्यते ।
तदावस्थामिमां दृष्ट्वा तृष्णे किं न विदीर्यसे ॥ ९९ ॥

जब न वेदना है और न कोई वेदयिता तब हे तृष्णे (तू) इस अवस्था को देखकर क्यों नहीं छिन्न-भिन्न हो जाती ?

दृश्यते स्पृश्यते चापि स्वप्नमायोपमात्मना ।
चित्तेन सहजातत्वाद् वेदना तेन नेक्ष्यते ॥ १०० ॥

स्वभाव में स्वप्न और माया के समान (अपरमार्थ सत्) चित्त (जब चक्षु के प्रत्यय से उत्पन्न होता है तब) देखता है (जब काय के प्रत्यय से उत्पन्न होता है तब) छूता है और वेदना उसी के साथ उत्पन्न होती है इसलिए (वह अलग से अनुभूत होती हुई) नहीं दिखाई देती है।

पूर्वं पश्चाच्च जातेन स्मर्यते नानुभूयते ।
स्वात्मानं नानुभवति न चान्येनानुभूयते ॥ १०१ ॥

जो पश्चात् उत्पन्न हुआ है, वह पूर्व उत्पन्न हुए का अनुभव नहीं कर सकता, स्मरण कर सकता है (क्योंकि अनुभव उन्हींका परस्पर संभव है जो समान काल में हों)। स्वयं से स्वसंवेदन होना संभव नहीं (द्रष्टव्य (९।१७–२५) और पर से (अपर का भी) अनुभव हो नहीं सकता।

न चास्ति वेदकः कश्चिद् वेदनातो न विद्यते ।
निरात्मके कलापे ऽस्मिन् क एव बाध्यते ऽनया ॥ १०२ ॥

इसलिए परमार्थ में न तो कोई वेदयिता है और न वेदना। इस निरात्मक प्रपंच में उससे पीड़ा किसे ?

चित्तस्मृत्युपस्थान और धर्मस्मृत्युपस्थान

नेन्द्रियेषु न रूपादौ नान्तराले मनः स्थितं ।
नाप्यन्तर्न बहिश्चित्तमन्यत्रापि न लभ्यते ॥ १०३ ॥

मन न इन्द्रियों में है, न रूप आदि (विषयों) में है और न दोनों के बीच स्थित है । मन न भीतर है, न बाहर है और न (इन सबसे अलग कहीं) दूसरे ही स्थान पर है ।

यन्न काये न चान्यत्र न मिश्रं न पृथक् क्वचित् ।
तन्न किंचिदतः सत्त्वाः प्रकृत्या परिनिर्वृताः ॥ १०४ ॥

जो न काया में है, न (काया से बाहर कहीं) दूसरे स्थान में है, न दोनों म है और न (दोनों से) पृथक् कहीं पर है, वह कोई (वस्तुसत् पदार्थ) नहीं है। इसलिए प्राणी स्वभाव से ही परिनिर्वृत हैं ।

ज्ञेयात्पूर्वं यदि ज्ञानं किमालंब्यास्य संभवः ।
ज्ञेयेन सह चेद् ज्ञानं किमालंब्यास्य संभवः ॥ १०५ ॥
अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चात्तदा ज्ञानं कुतो भवेत् ।
एवं च सर्वधर्माणामुत्पत्तिर्नावसीयते ॥ १०६ ॥

[ज्ञान उसे कहते हैं जो किसी ज्ञेय--विषय को जाने। (चित्त, मनस्, ज्ञान विज्ञान, विज्ञप्ति आदि पर्यायवाचक शब्द हैं।) अतः ज्ञान और ज्ञेय की स्थिति पर विचार करना है। तीन ही प्रकार की स्थितियां संभव हैं। ज्ञान, ज्ञेय से पूर्व, या पश्चात् या युगपत् (=एक काल में) हो सकता है। चतुर्थी स्थिति और कोई हो नहीं सकती और ये तीनों संभव नहीं। क्योंकि –]

ज्ञान यदि ज्ञेय से पूर्व हो तो (ज्ञेय के संबद्ध न होने के कारण उसे) किसके आधार पर (ज्ञान कहना) संभव होगा? ज्ञान और ज्ञेय यदि युगपत् हों तो (उनका कार्य-कारण भाव संबन्ध नहीं हो सकता क्योंकि सदा कारण पहले और कार्य बाद में देखा जाता है। फिर) उस (ज्ञान) को किसके आधार पर (ज्ञान कहना) संभव होगा? यदि ज्ञान ज्ञेय से पश्चात् हो तो (ज्ञान के काल में ज्ञेय के निरुद्ध हो जाने के कारण उसकी) उत्पत्ति कैसे? इस प्रकार (ज्ञान की उत्पत्ति की भांति) सभी धर्मों की उत्पत्ति का कुछ ठौर-ठिकाना नहीं है ।

संवृति-सत्य की भ्रममात्रता

यद्येवं संवृतिर्नास्ति ततः सत्यद्वयं कथं ।
अथ साप्यन्यसंवृत्या स्यात् सत्त्वो निर्वृतः कुतः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार यदि संवृति * नहीं तो दो सत्य कैसे? उसकी सिद्धि यदि दूसरे

* इसके होने से यह होता है 'अस्मिन् सतीदं भवति' इस प्रकार के इदं प्रत्ययतानियम अर्थात् कार्य-कारण भाव के नियम का नाम संवृति है। धर्मों के अजाति वाद (=न उत्पन्न होने का सिद्धांत) के प्रतिपादन का सीधा अर्थ यह है कि संवृति सत्य नहीं है ।

की संवृति से हो तो जीव मुक्त कैसे? (क्योंकि मुक्त भी किसी न किसी की संवृति का विषय बन ही जाता है।)

परचित्तविकल्पो ऽसौ स्वसंवृत्या तु नास्ति सः।
स पश्चान्नियतः सोऽस्ति न चेन्नास्त्येव संवृतिः ॥ १०८ ॥

वह (मुक्त जीव) दूसरे के मन की कल्पना में आता है पर स्वयं अपनी संवृति (कल्पना) में नहीं आता। वह (धर्म जो कारण से उत्पन्न होता है सदा) नियमपूर्वक पीछे होता है। वह यदि हो, तो संवृति होती है। यदि न हो, तो संवृति नहीं होती (भाव यह कि जहां कार्य-कारण भाव होता है, वहीं संवृति होती है। जहां कार्य-कारण भाव नहीं, वहां संवृति भी नहीं होती।)

कल्पना कल्पितं चेति द्वयमन्योन्यनिश्रितं।
यथाप्रसिद्धिमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते ॥ १०९ ॥

दोनों, कल्पना और उससे कल्पित (पदार्थों) का अन्योन्याश्रय भाव होता है और यह सब विचार लोक-व्यवहार का सहारा लेकर किया जाता है।

विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते।
तदानवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ॥ ११० ॥

विचारित-विचार के द्वारा जब विचार किया जाता है, तब उस (साधनभूत) विचार का भी (फिर) विचार हो सकता है (एवं पुनः पुनः विचारित विचारों का पुनः पुनः विचार होने से) अनवस्था (–दोष) * होगा।

विचारिते विचार्ये तु विचारस्यास्ति नाश्रयः।
निराश्रयत्वान्नोदेति तच्च निर्वाणमुच्यते ॥ १११ ॥

विचार्य अर्थात् विचार के विषयभूत सब धर्मों का जब विचार कर लिया जाता है तब विचार का आश्रय ही न रह जाता। फिर आश्रयहीन होने के कारण उसका प्रादुर्भाव (भी) नहीं होता और वह (विचार या विकल्प का अभाव ही) निर्वाण कहलाता है।

यस्य त्वेतद् द्वयं सत्यं स एवात्यन्तदुःस्थितः।
यदि ज्ञानवशादर्थो ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः ॥ ११२ ॥

अथ ज्ञेयवशाज् ज्ञानं ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः
अथान्योन्यवशात् सत्त्वमभावः स्याद् द्वयोरपि ॥ ११३ ॥

---

* अनवस्था–दोष (Absence of conclusion) कहीं न ठहरने वाला तर्क जब उपस्थित होता है तो उसे अनवस्था-दोष कहते हैं। जैसे यदि कोई वृक्ष का हेतु खोजते हुए बीज तक पहुँच कर फिर उस बीज का हेतु खोजने लगे और कहे कि उस बीज का हेतु दूसरा बीज है और दूसरे बीज का हेतु तीसरा बीज है और इस प्रकार बीज का हेतु बीज बताते-बताते कहीं ठहरना न हो, तो यह समूचा तर्क अनवस्था-दोषयुक्त होगा।

जिसके मत में ये (विकल्प तथा विकल्पित विषय) दोनों ही सत्य हैं वही दुर्दशा में है (क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय जो दोनों वस्तुतः कल्पित हैं उन्हें वह सत्य सिद्ध करना चाहेगा जो कि संभव नहीं। और संभव हो तो कैसे?) यदि (ज्ञेय) पदार्थ का कारण ज्ञान हो, तो ज्ञान का अस्तित्व किस पर निर्भर रहेगा? और यदि ज्ञान का कारण ज्ञेय हो, तो ज्ञेय का अस्तित्व किस पर रहेगा? तदि दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर हो, तो (उसके असंभव होने के कारण) दोनों का अभाव मानना होगा। [जैसा कि पिता-पुत्र के दृष्टान्त से स्पष्ट है।]

पिता चेन्न विना पुत्रं कुतः पुत्रस्य संभवः।
पुत्राभावे पिता नास्ति तथासत्त्वं तयोर्द्वयोः॥ ११४॥

यदि पुत्र के बिना पिता न हो तो (पिता के अभाव में) पुत्र हो ही कैसे सकेगा? और जब पुत्र नहीं तो पिता भी नहीं। इस प्रकार (सिद्ध हुआ कि परमार्थ में) दोनों ही नहीं हैं।

अंकुरो जायते बीजाद् बीजं तेनैव सूच्यते।
ज्ञेयाज् ज्ञानेन जातेन तत्सत्ता किं न गम्यते॥ ११५॥

(जैसे) अंकुर की उत्पत्ति बीज से होती है और उस (अंकुर) से ही बीज के होने का पता चलता है (वैसे ही) ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है (और उसी से) उस (ज्ञेय) की सत्ता जानी जाती है। (ऐसा) क्यों नहीं (मान लेते)?

अंकुरादन्यतो ज्ञानाद् बीजमस्तीति गम्यते।
ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातं ज्ञेयं यत्तेन गम्यते॥ ११६॥

बीज का पता (अंकुर से नहीं चलता प्रत्युत उस) अंकुर से अतिरिक्त दूसरे ज्ञान से चलता है (जिसने कि जान रक्खा है कि बीज होने पर अंकुर होता है) पर ज्ञान की सत्ता किससे जानी गयी जो उससे ज्ञेय की प्रतीति मान ली जाये।

अजातिवाद का स्थापन

[प्रतीत्यसमुत्पन्नता अथवा हेतुप्रत्ययसापेक्षता के नियम के द्वारा सब लौकिक व्यवहार चलते हैं। पर यह नियम स्वयं मिथ्या है। बनते-बिगड़ते पदार्थों के बीच कार्य-कारण भाव की स्थापना करना असंभव है। वस्तुतः न तो पदार्थ बनते ही हैं, न बिगड़ते ही। न किसी की उत्पत्ति ही होती है और न किसी का विरोध ही। इस अजातिवाद की स्थापना नागार्जुन ने एक कारिका में की है—

न स्वतो, नापि परतो, न द्वाभ्यां, नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥

(माध्यमिक कारिका १.१)

—कहीं कोई पदार्थ न अपने से उत्पन्न होते हैं, न दूसरे से, न दोनों से और न अहेतु से। इस स्थापना को युक्तियों से सिद्ध करने के लिए जो लोग

पदार्थों की उत्पत्ति यों ही या किसी कारण से मानते हैं, [उनका खंडन ११७–१४३ कारिकाओं में है ।]

अजातिवाद के प्रतिपक्षी स्वभाववाद पर विचार

(चार्वाक के मत में जगत् की विचित्रता का कारण चेतन नहीं है, क्योंकि यदि होता तो उसे प्रत्यक्ष–गोचर होना चाहिए था। रहा प्रत्यक्ष-गोचर जड़ पदार्थ सो उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि कमल और मयूरपंख जैसी अद्भुत और विचित्र वस्तुओं को बना सके । अतः जगत् की विचित्रता यों ही है––स्वभाव से है–उसका हेतु कुछ नहीं । पर यह मत ठीक नहीं। क्योंकि –)

लोकः प्रत्यक्षतस्तावत् सर्वं हेतुमुदीक्षते ।
पद्मनालादिभेदो हि हेतुभेदेन जायते ॥ ११७ ॥

सभी लोग प्रत्यक्ष ही (नाना प्रकार के कार्यों के) नाना प्रकार हेतु देखते हैं जिसका जो कारण होता है उसकी उससे उत्पत्ति प्रत्यक्ष ही देखी जाती है, आम के बीज से आम की ही और नीम के बीज से नीम की ही उत्पत्ति सब देखते हैं । हेतु के भेद के कारण ही कमल और नाल आदि में भेद रहता है–– वे एक जैसे नहीं होते ।

किं कृतो हेतुभेदश्चेत् पूर्वहेतुप्रभेदतः ।
कस्माच्च फलदो हेतुः पूर्वहेतुप्रभावतः ॥ ११८॥

[चार्वाक] हेतुभेद का कारण क्या है ? [माध्यमिक] (पर पर हेतु-भेद के प्रति) पूर्व (पूर्व) हेतु-भेद कारण है। [चार्वाक] (कोई) हेतु (विशेष प्रकार का) फल क्यों देता है ? [माध्यमिक] (अपने से) पूर्ववर्ती हेतु के प्रभाव से (पर-वर्ती हेतु फल दिया करता है।)

अजातिवाद के प्रतिपक्षी ईश्वरवाद की आलोचना

[गोतम-प्रमुख नैयायिकों के मत में जगत् का कारण ईश्वर है ।]

ईश्वरो जगतो हेतुर्वद कस्तावदीश्वरः ।
भूतानि चेद् भवत्वेवं नाममात्रेऽपि किं श्रमः ॥ ११९ ॥

जगत् का हेतु ईश्वर है । बोलो ईश्वर क्या है ? यदि भूत (पृथिवी, आपस्, तेजस्, वायु) ईश्वर हैं तो हों (उन्हें हम भी कारण मान लेते हैं पर ईश्वर–) नाम भर (सिद्ध करने के लिए) क्यों श्रम करते हो (ईश्वर नाम न लेकर सीधे ही भूतों को क्यों नहीं हेतु मान लेते ?)

अपि त्वनेकेऽनित्याश्च निश्चेष्टा न च देवताः ।
लंघ्याश्चाशुचयश्चैव क्ष्मादयो न स ईश्वरः ॥ १२० ॥

पर (इतनी बात और अधिक कह देने की है कि जैसा तुम्हारे मत में ईश्वर है वैसा कोई महाभूत नहीं क्योंकि) पृथिवी आदि (महाभूत) अनेक हैं, ईश्वर एक है । पृथिवी आदि महाभूत अनित्य है, ईश्वर नित्य है । पृथिवी आदि महा-

भूत अचेतन हैं, ईश्वर सचेतन है। पृथिवी आदि महाभूत देवता नहीं हैं, ईश्वर देवता है। पृथिवी आदि महाभूत लंघ्य हैं, ईश्वर अलंघ्य है। पृथिवी आदि महाभूत अशुचि हैं, ईश्वर शुचि है।

नाकाशमीशो ऽचेष्टत्वान्नात्मा पूर्वनिषेधतः ।
अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वमप्यचिन्त्यं किमुच्यते ।। १२१ ।।

आकाश ईश्वर हो नहीं सकता क्योंकि वह अचेतन है। आत्मा (भी ईश्वर) नहीं क्योंकि उसका पहले (९।६९–७०) निराकरण कर चुके हैं। (यदि कहो कि ईश्वर अचिन्त्य है, उसका स्वरूप 'इदमित्थं' रूप से नहीं बताया जा सकता तो उस) अचिन्त्य का कर्तृत्व भी अचिन्त्य हुआ, उसकी चर्चा ही क्यों चलाते हो ?

तेन किं स्रष्टुमिष्टं च आत्मा चेन्नन्वसौ ध्रुवः ।
क्ष्मादिस्वभाव ईशश्च ज्ञानं ज्ञेयादनादि च ।। १२२ ।।
कर्मणः सुखदुःखे च वद किं तेन निर्मितं ।

वह (ईश्वर) किसकी सृष्टि करना चाहता है ? यदि आत्मा की (तो ठीक नहीं क्योंकि) वह नित्य है। (परमाणुरूप) पृथिवी आदि का स्वभाव तथा (स्वयं) ईश्वर भी नित्य है, अतः वह न तो पृथिवी आदि की ही सृष्टि कर सकता है और न अपनी ही)। ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादि है, (रहे आदिमान्) सुख और दुःख (वे) कर्म से होते हैं। बोलो, (अब बची) कौन सी (वस्तु जिसे) उसने बनाया ?

हेतोरादिर्न चेदस्ति फलस्यादिः कुतो भवेत् ।। १२३ ।।
कस्मात् सदा न कुरुते नहि सो ऽन्यमपेक्षते ।
तेनाकृतोऽन्यो नास्त्येव तेनासौ किमपेक्षतां ।। १२४ ।।

यदि हेतु (=ईश्वर) अनादि है तो (उस हेतु का) कार्य सादि कैसे होगा ? (पर वह) क्यों सदा (कार्य) नहीं करता ? उसे दूसरा (मददगार तो) चाहिए ही नहीं (जो उसके न होने से वह बैठा है, कार्य नहीं करता)। (दुनिया में) ऐसा कोई है नहीं जिसे उसने न बनाया हो, इसलिए उसे अपेक्षा हो ही किसकी सकती है ?

अपेक्षते चेत् सामग्रीं हेतुर्न पुनरीश्वरः ।
नाकर्तुमीशः सामग्र्यां न कर्तुं तदभावतः ।। १२५ ।।

यदि (ईश्वर को सृष्टि के लिए) सामग्री की अपेक्षा हो तो फिर ईश्वर (सृष्टि का) हेतु न हुआ (सामग्री ही हेतु बन गई) (ईश्वर) सामग्री बनाने में समर्थ हो† (तो हो पर) बना नहीं सकता क्योंकि (सामग्री बनाने के लिए भी तो सामग्री चाहिए पर) वह है नहीं।

करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत् परायत्तः प्रसज्यते ।
इच्छन्नपीच्छायत्तः स्यात् कुर्वतः कुत ईशता ।। १२६ ।।

† अक्षरार्थ "असमर्थ न हो"।

यदि ईश्वर बिना इच्छा के (सृष्टि) करता है तो वह पराधीन है। यदि (अपनी) इच्छा से (सृष्टि) करता है तो इच्छाधीन है। (इस प्रकार सृष्टि) करते हुए उसकी ईश्वरता कैसे ?

अजातिवाद के प्रतिपक्षी परमाणुवाद की आलोचना

ये ऽपि नित्यानणूनाहु तेऽपि पूर्वं निवारिता ।

जो (मीमांसक आदि) नित्य परमाणुओं (के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति) को मानते हैं उनका पहले (९।८६–८७) निराकरण किया जा चुका है।

अजातिवाद के प्रतिपक्षी सांख्य-सम्मत प्रकृतिवाद की आलोचना

सांख्या प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणं ।। १२७ ।।

सांख्य (मत के अनुयायी) नित्य प्रधान अर्थात् प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं ।

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा अविषमस्थिताः ।
प्रधानमिति कथ्यन्ते विषमैर्जगदुच्यते ।। १२८ ।।

साम्यावस्था में स्थित सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों को प्रधान या प्रकृति कहते हैं। वैषम्यावस्था में (स्थित उन्हीं गुणों को) जगत् कहते हैं।

एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत् ।
एवं गुणा न विद्यन्ते प्रत्येकं तेऽपि हि त्रिधा ।। १२९ ।।

एक (प्रकृति) के तीन स्वभाव होने असंगत है, इसलिए वह (परमार्थ-) सत् नहीं। इसी प्रकार गुण भी (परमार्थ–) सत् नहीं क्योंकि (उनका भी स्वभाव) तीन प्रकार का है ।

गुणाभावे च शब्दादेरस्तित्वमतिदूरतः ।
अचेतने न च वस्त्रादौ सुखादेरप्यसंभवः ।। १३० ।।

गुणों के (परमार्थ–) सत् न होने के कारण (उनसे उत्पन्न) शब्दादि का (परमार्थ–) सत् होना बहुत ही दूर की बात है। [किं च त्रिगुणात्मक सर्ग सुख-दुःख-मोहात्मक है––यह सांख्यों की मान्यता भी ठीक नहीं, क्योंकि] अचेतन वस्त्र आदि में सुख आदि का होना भी असंभव है।

तद्धेतुरूपा भावाश्चेन्ननु भावा विचारिताः ।
सुखाद्येव च ते हेतुः न च तस्मात्पटादयः ।। १३१ ।।

यदि (कहो कि) भाव अर्थात् पदार्थ उन (सुखादि के) हेतु हैं (तो ठीक नहीं) क्योंकि उनका विचार कर चुके हैं (वे न अवयवि रूप हैं [९।८१–८५] ; न परमाणुरूप हैं [९।८६–८७], न त्रिगुणात्मक हैं [९।१२८–१२९] ; वे असत् हैं फिर कारण किसके बनेंगे)। तुम्हारे (मत में सत्त्व, रजस्, तमस् ही सुख, दुःख, मोह हैं और

उन्हीं से सर्ग होता है अतः) सुखादि ही (सब कार्य-जगत् के) कारण हैं, इसलिए वस्त्र आदि (परमार्थ में) असत् हैं।

पटादेस्तु सुखादि स्यात् तदभावात् सुखाद्यसत्।
सुखादीनां च नित्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥ १३२ ॥

वस्त्र आदि से सुख आदि होता है और वे असत् हैं अतः सुखादि (भी) असत् हुए। [किं च सत्त्व, रजस् और तमस् गुण वाले होने से सुखादि तुम्हारे मत में नित्य हैं, पर यह बात सर्वथा है उलटी, क्योंकि] सुखादि कभी नित्य नहीं उपलब्ध होते (प्रत्युत नश्वर और क्षणभंगुर देखे जाते हैं)।

सत्यामेव सुखव्यक्तौ संवित्तिः किं न गृह्यते।
तदेव सूक्ष्मतां याति, स्थूलं सूक्ष्मं च तत्कथं ॥ १३३ ॥

(यदि सुखादि नित्य होते तो एक बार जब) सुख का उदय होता (तब से निरंतर उसका) संवेदन (बना रहता, पर) होता नहीं, यह क्यों ? [सांख्यवादी का समाधान] (व्यंजक सामग्री के अभाव के कारण) वह सूक्ष्म हो जाता है (इसलिए संवेदन बना नहीं रहता)। [माध्यमिक का आक्षेप] वह (एक ही वस्तु) स्थूल और सूक्ष्म कैसे ?

स्थौल्यं त्यक्त्वा भवेत् सूक्ष्ममनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते।
सर्वस्य वस्तुनस्तद्वत् किं नानित्यत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥

स्थूलता छोड़ कर (सुख आदि की) सूक्ष्मता होती है (यदि ऐसा मानते हो तो) स्थूलता और सूक्ष्मता तो अनित्य हैं (एवं जब कुछ को अनित्य मान लिया तब) उसी प्रकार (अपने) सब तत्त्वों को क्यों नहीं अनित्य मान लेते ?

न स्थौल्यं चेत् सुखादन्यत् सुखस्यानित्यता स्फुट।

(यदि यह मानो कि) स्थूलता सुख से अभिन्न है (तो जैसे स्थूलता की अनित्यता स्पष्ट है वैसे ही) सुख की अनित्यता भी स्पष्ट (सिद्ध) हो गई।

नासदुत्पद्यते किं चिदसत्त्वादिति चेन्मतं ॥ १३५ ॥

व्यक्तस्यासत उत्पत्तिरकामस्यापि ते स्थिता।
अन्नादो ऽमेध्यभक्षः स्यात् फलं हेतौ यदि स्थितं ॥ १३६ ॥

पटार्घेणैव कर्पासबीजं क्रीत्वा निवस्यतां।
मोहाच्चेन्नेक्षते लोकस् तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थितिः ॥ १३७ ॥

(यदि यह मानो कि) किसी असत् (पदार्थ) की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह है नहीं (तो ठीक नहीं, क्योंकि) तुम्हारे मत में बिना चाहे भी (उस) व्यक्त-जगत् की उत्पत्ति होती है (जो अव्यक्तावस्था में) असत् होता है। यदि हेतु में फल को स्थित मानो तो अन्नभक्षी को मलभक्षी कहना होगा तथा कपड़े के दाम से कपास के बीजों को खरीद कर पहनना होगा। (यदि यह कहो कि) लोग

मोहवश तत्त्व नहीं देखते (इसीलिए कोई ऐसा नहीं कहता, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि) तत्त्वज्ञानी की भी वही दशा है (वह भी पहनने के लिए कपड़ा खरीदता है, कपास के बीज नहीं)।

लोकस्यापि च तज्ज्ञानमस्ति कस्मान्न पश्यति ।
लोकाप्रमाणतायां चेद् व्यक्तदर्शनमप्यसत् ।। १३८ ।।

(तत्त्वज्ञ की भांति) संसारी को भी उस (कार्यकारणभाव) का ज्ञान है पर वह क्यों (कारण के भीतर कार्य की सत्ता) नहीं देखता ? यदि संसारी को प्रमाण न मानो तो (इस) व्यक्तदर्शन अर्थात् दृश्यमान संसार को भी (परमार्थ में) असत् मानना होगा (फिर हम बौद्ध और तुम सांख्य एक ही हो गये। हम भी तत्त्व-चर्चा में लौकिक-व्यवहार संमत प्रमाणों को नहीं मानते)।

प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु तत्प्रमितं मृषा ।
तत्त्वतः शून्यता तस्माद् भावानां नोपपद्यते ।। १३९ ।।

कल्पितं भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ।
तस्माद् भावो मृषा यो हि तस्याभावः स्फुटं मृषा ।। १४० ।।

तस्मात् स्वप्ने सुते नष्टे सो * नास्तीति विकल्पना ।
तद्भावकल्पनोत्पादं विबध्नाति मृषा च सा ।। १४१ ।।

[सांख्य] यदि प्रमाण को प्रमाण न मानो तो उससे प्रमित (पदार्थ) को भ्रान्त मानना होगा और इसलिए भावों (=पदार्थों) की शून्यता (जो कि प्रमाण से सिद्ध की जाती है) परमार्थतः सिद्ध न हो सकेगी ।

(माध्यमिक) भाव की कल्पना न करने पर अभाव पकड़ में नहीं आता। इसलिए जो भाव मिथ्या (सिद्ध) है, उसका अभाव स्पष्ट ही मिथ्या है। अतएव स्वप्न में पुत्र के नष्ट होने पर, उसके न होने की कल्पना उसके होने की कल्पना को रोकती है और (अपने आपको भी) मृषा (सिद्ध करती) है।

तस्मादेवं विचारेण नास्ति किंचिदहेतुतः ।

इस प्रकार विचार करने से (स्पष्ट है कि) अहेतु अर्थात् स्वभाव, महेश्वर, प्रकृति, परमाणु आदि से कुछ नहीं (उत्पन्न) होता।

अजातिवाद के प्रतिपक्षी हेतुवाद की आलोचना

न च व्यस्तसमस्तेषु प्रत्ययेषु व्यवस्थितं ।। १४२ ।।

अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति ।
मायातः को विशेषोऽस्य यन्मूढैः सत्यतः कृतं ।। १४३ ।।

---

* 'सो' के स्थान में पंजिकाकार के अनुसार 'स' पाठ है और वही व्याकरणानुकूल है। यदि 'सो' को (सा+उ) मानें तो यह विकल्पना का विशेषण बनता है।

मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितं ।
आयाति तत् कुतः कुत्र याति चेति निरूप्यतां ॥ १४४ ॥

यदन्यसंनिधानेन दृष्टं न तदभावतः ।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथं ॥ १४५ ॥

(कार्य) व्यस्त (अर्थात् स्व अथवा पर) और समस्त (अर्थात् दोनों स्व एवं पर) प्रत्ययों (=कारणों) पर निर्भर नहीं है [क्यों निर्भर नहीं ? इसका स्पष्टीकरण यों है --

(१) कार्य अपने आप से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता नहीं होती, फिर अपने आप से उत्पन्न हो तो कैसे ?

(२) कार्य अपने से पर-पदार्थ द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता। यदि कोई अपने से भिन्न पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता हो तो सभी की सबसे उत्पत्ति हो जाती ! कोदो से धान भी उग आते !

(३) कार्य दोनों से--अपने आप तथा अपने से भिन्न पदार्थ द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता क्योंकि दोनों आपत्तियां (जो ऊपर दी गई हैं) माथे आ पड़ेंगी।]

[पर त्रैकाल्यवादियों* का कहना है कि हेतु-प्रत्यय के द्वारा पदार्थ अनागत से वर्तमान में और वर्तमान से अतीत में चला जाता है। इस काल-परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति और भंग है। वस्तुतः पदार्थ सदा रहता है--वह परमार्थ-सत् ही है। यह मत ठीक नहीं। क्योंकि--] (पदार्थ) किसी दूसरी जगह से न आता है, न ठहरता है न (कहीं अन्यत्र) चला जाता है (क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह नित्य होता पर तुम्हारे मत में जो सत् है वह क्षणिक ही है, नित्य नहीं)। मूढ़ों ने जिसे परमार्थ सत् मान रखा हैं उसकी माया से कुछ भी भिन्नता नहीं है । जिसका निर्माण माया से हुआ है तथा जिसका निर्माण हेतुओं से हुआ है, वह कहां से आता है और कहां जाता है, इस पर विचार करना चाहिए। जो दूसरे के सामीप्य में दिखाई पड़ता है, अभाव में दिखाई नहीं पड़ता, वह प्रतिबिम्ब जैसा है (प्रतिबिम्ब दर्पण हो तो दिखाई पड़ता है, न हो तो दिखाई नहीं पड़ता) उसमें सत्यता कहां?

विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजनं ।
अथाप्यविद्यमानोऽसौ हेतुना किं प्रयोजनं ॥ १४६ ॥

यदि पदार्थ सत् हो तो उसका हेतु से क्या प्रयोजन? और यदि असत् है तो भी उसका हेतु से क्या प्रयोजन ?

नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि ।
तदवस्थः कथं भावः को वान्यो भावतां गतः ॥ १४७ ॥

शतकोटि हेतुओं से भी असत् में विकार नहीं होता। फिर वैसा का वैसा

* त्रैकाल्यवादी शब्द सर्वास्तिवादियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ५।२५, २६ ।

(=बिना विकृत हुए) वह कैसे सत् हो सकता है? अथवा जो सत् होता है वह (असत् से) अन्य कौन है?

नाभावकाले भावश्चेत् कदा भावो भविष्यति ।
नाजातेन हि भावेन सोऽभावो ऽपगमिष्यति ॥ १४८ ॥

असत् के समय सत् यदि होता नहीं तो सत् होता कब है? सत् यदि उत्पन्न न हो तो असत् का नाश नहीं होता।

न चानपगते ऽभावे भावावसरसंभवः ।
भावश्चाभावतां नैति द्विस्वभावप्रसंगतः ॥ १४९ ॥

और असत् यदि दूर न हो, तो सत् के होने का अवसर नहीं। (किंच) सत् (कभी) असत् होता नहीं (यदि हो तो उसमें) दो (परस्पर विरोधी) स्वभाव मानने होंगे (पर परस्पर विरोधी अग्नि-जल के समान एकत्र रह नहीं सकते)।

एवं च न विरोधोऽस्ति न च भावो ऽस्ति सर्वदा ।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत् ॥ १५० ॥

सदा इस प्रकार न तो सत्ता है और न विनाश। अतएव सब जगत् अजात है, अनिरुद्ध है।

स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः ।
निर्वृतानिर्वृतानां च विशेषो नास्ति वस्तुतः ॥ १५१ ॥

गतियां (—सुगति, दुर्गति आदि)* विचार करने पर स्वप्नवत् हैं, कदली (—स्तंभ) वत् (निःसार) हैं। परमार्थ में बद्ध और मुक्त में (कोई) भेद नहीं।

शून्यवाद का उपसंहार

एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत् ।
सत्कृतः परिभूतो वा केन कः संभविष्यति ॥ १५२ ॥

इस प्रकार पदार्थ शून्य हैं। (उनसे) क्या मिलना? क्या जाना? किसका किससे आदर या तिरस्कार?

कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियं वा किमप्रियं ।
का तृष्णा कुत्र वा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः ॥ १५३ ॥

सुख या दुःख किससे? क्या प्रिय? क्या अप्रिय? खोजने पर स्वभाव से तृष्णा कहां? (और) तृष्णा कैसी?

विचारे जीवलोकः कः को नामात्र मरिष्यति ।
को भविष्यति को भूतः को बन्धुः कस्य कः सुहृत् ॥ १५४ ॥

* गतियां पांच हैं—नरक, प्रेत, तिर्यञ्च्, मनुष्य और देव गति।

विचार करने पर जीवलोक क्या? यहां मरण ही किसका? कौन होगा? कौन हुआ? कौन किसका बन्धु? कौन किसका मित्र?

सर्वमाकाशसंकाशं परिगृह्णन्तु ; मद्विधाः—
प्रहृष्यन्ति प्रकुप्यन्ति कलहोत्सवहेतुभिः ॥ १५५ ॥

सब जगत् को आकाशवत् (शून्य) समझना चाहिए (पर) मेरे जैसे (लोग समझते नहीं और) उत्सव का कारण हो तो हर्ष मनाते हैं, कलह का कारण हो तो क्रोध करते हैं।

शोकायासैर्विषादैश्च मिथश्छेदनभेदनैः ।
यापयन्ति सुकृच्छ्रेण पापैरात्मसुखेच्छवः ॥ १५६ ॥

शोक, श्रम और विषाद से परस्पर मारामारी—काटाकाटी करते, पाप कमाते, सुख की इच्छा रख कर भी दुःख से (दिन) बिताते हैं।

मृताः पतन्त्यपायेषु दीर्घतीव्रव्यथेषु च ।
आगत्यागत्य सुगतिं भूत्वा भूत्वा सुखोचिताः ॥ १५७ ॥

बार बार सुगति पाकर और बार बार सुख भोग कर (पापवश प्राणी) मर कर दीर्घ(-कालिक) तीव्र व्यथा वाले नरकों में गिरते हैं।

भवे बहुप्रपातश्च तत्र चातत्त्वमीदृशं * ।
तत्रान्योन्यविरोधश्च न भवेत् तत्त्वमीदृशं ॥ १५८ ॥

अतत्त्व अर्थात् मोह ऐसा (पदार्थ है कि) भव (संसार) में बहुत बार गिरना पड़ता है और वहां (भी) परस्पर का विरोध (=लड़ाई-झगड़ा) रहता है। तत्त्व ऐसा (पदार्थ है कि जहां यह सब) नहीं हो सकता।

तत्र चानुपमास्तीव्रा अनन्तदुःखसागराः ।
तत्रैवमल्पबलता तत्राप्यल्पत्वमायुषः ॥ १५९ ॥

वहां भव में) तीव्र दुःख के अनन्त समुद्र हैं, जिनकी उपमा (कहीं) नहीं। (इतना ही नहीं) उस पर इस प्रकार की अल्पबलता, उस पर भी आयु की अल्पता—

तत्रापि जीवितारोग्यव्यापारैः क्षुत्क्लमश्रमैः ।
निद्रयोपद्रवैर्बालसंसर्गैर्निष्फलैस्तथा ॥ १६० ॥

वृथैवायुर्व्रजत्याशु विवेकस्तु सुदुर्लभः ।

उस पर भी जीने के लिए काम, रोग दूर करने के लिए दौड़-धूप, भूख,

*'चासत्त्वमीदृशं' मूल का पाठ है। टीकाकार की व्याख्यानुसार पाठ 'चातत्त्वमीदृशं' है। असत्त्व और अतत्त्व एकार्थक हैं। उत्तरार्ध में 'तत्त्व' को देख पूर्वार्ध में 'अतत्त्व' बहुत उपयुक्त मालूम होता है।

थकावट, श्रम, निद्रा, उपद्रव तथा निष्फल मूढ़संसर्ग के कारण झटपट आयु बीत जाती है और विवेक दुर्लभ रहता है।

तत्राप्यभ्यस्तविक्षेपनिवारणगतिः कुतः ॥ १६१ ॥
तत्रापि मारो यतते महापायनिपातने ।
तत्रासन्मार्गबाहुल्याद् विचिकित्सा च दुर्जया ॥ १६२ ॥

उस पर भी (काम और मन को) जो चंचलता का अभ्यास हो जाता है वह किसी तरह रुकता नहीं। उस पर भी मार महानरकों में गिराने का जतन करता ही रहता है। उस पर अनेक असत्-पन्थों के प्रचलन के कारण (सद्धर्म के विषय में) संदेह (बना रहता है, उसे) जीतना कठिन होता है।

पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।
क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत्यहो दुःखपरम्परा ॥ १६३ ॥

उस पर भी क्षण (-संपत्ति) दुर्लभ है, बुद्ध की उत्पति तो और भी दुर्लभ है। और क्लेशों की बाढ़ रोके रुकती नहीं। हन्त! (यह कैसी) दुःख की पर-म्परा है?

अहो बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघर्तिनां ।
ये नेक्षन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःस्थिताः ॥ १६४ ॥

हन्त! दुःख की बाढ़ में पड़े ये (प्राणी) अत्यन्त शोचनीय हैं, जो इस प्रकार अत्यन्त दुर्गत होते हुए भी अपनी दुर्गति नहीं देखते।

स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चिद् विशेद् वह्निं मुहुर्मुहुः ।
स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते एवमप्यति दुःस्थिताः ॥ १६५ ॥

स्नान कर-कर जैसे कोई आग में घुसे वैसे ही अत्यन्त दुःखित लोग अपने को सुखित मानते हैं।

अजरामरलीलानामेवं विहरतां सतां ।
आयास्यन्त्यापदो घोरा कृत्वा मरणमग्रतः ॥ १६६ ॥

एवं अजर और अमरों की भांति विलास करने वाले (प्राणियों के सामने) मृत्यु को मुखिया बनाकर घोर आपत्तियां आनेवाली हैं (पर उन्हें कुछ चिन्ता नहीं)।

एवं दुःखाग्नितप्तानां शांतिं कुर्यामहं कदा ।
पुण्यमेघसमुद्भूतैः सुखोपकरणैः स्वकैः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार दुःख की आग से तपे प्राणियों को मैं पुण्य-मेघ से उत्पन्न सुख-साधन (—जल) से कब शीतल करूंगा!

कदोपलंभदृष्टिभ्यो देशयिष्यामि शून्यतां ।
संवृत्यानुपलंभेन पुण्यसंभारमादरात् ॥ १६८ ॥

(मैं) व्यवहार में त्रिकोटि परिशुद्धि† के द्वारा आदर के साथ पुण्य संभार× की, (तथा) शून्यता की देशना कब (उन प्राणियों को) दूंगा जो उपलंभ-दृष्टि‡ पकड़े हुए हैं।

---

† त्रिकोटिपरिशुद्ध वस्तुतः अनुपलंभ शब्द का प्रकारान्तर से कथन है। दान आदि पुण्य स्थलों में तीन-तीन कोटियां व्यवहार में होती ह। यथा—दान के स्थान में दाता, देयवस्तु और प्रतिग्राहक। इन तीन-तीन कोटियों में परमार्थदृष्टि न होना अनुपलंभ है।

× पुण्यसंभार=पुण्यसामग्री, दान, शील, क्षमा, आदि।

‡ उपलंभदृष्टि=प्रपंच में परमार्थबुद्धि।

दशम परिच्छेद

बोधि-परिणामना

बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभं ।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधिचर्याविभूषणाः ॥ १ ॥

बोधिचर्यावतार का चिंतन करते हुए जो मुझे पुण्य हुआ है, उससे सब लोग बोधिचर्या-विभूषण हों ।

सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथातुराः ।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागराः ॥ २ ॥

सब दिशाओं में जितने (लोग) शरीर और मन की व्यथा से व्याकुल हैं, वे मेरे पुण्यों से सुख-प्रमोद के समुद्रों को प्राप्त करें।

असंसारं सुखज्यानिर्मा भूत् तेषां कदाचन ।
बोधिसत्वसुखं प्राप्तं भवत्वविरतं जगत् ॥ ३ ॥

जब तक (उनका) आवागमन है, तब तक उनके सुख की हानि कभी न हो। जगत् को निरंतर बोधिसत्त्व सुख प्राप्त हो।

यावन्तो नरकाः केचिद् विद्यन्ते लोकधातुषु ।
सुखावतीसुखामोदैर्मोदन्तां तेषु देहिनः ॥ ४ ॥

लोक-धातुओं में जितने नरक विद्यमान हैं, उनके प्राणी सुखावती के सुखामोद से प्रमुदित हों ।

शीतार्ताः प्राप्नुवन्तूष्णमुष्णार्ताः सन्तु शीतलाः ।
बोधिसत्त्वमहामेघसंभवैर्जलसागरैः ॥ ५ ॥

शीत से दुःखी गरमी पाएं। गरमी से दुःखी बोधिसत्त्वरूपी महामेघों से उत्पन्न जल के समुद्रों से शीतल हों।

असिपत्रवनं तेषां स्यान्नन्दनवनद्युतिः ।
कूटशाल्मलिवृक्षाश्च जायन्तां कल्पपादपाः ॥ ६ ॥

उनके लिए असिपत्र-वन नन्दन-वन के समान हों और कूट शाल्मलि-वृक्ष कल्पवृक्ष हों ।

काद‍ंबकारंडवचक्रवाकहंसादिकोलाहलरम्यशोभैः ।
सरोभिरुद्दामसरोजगन्धैर्भवन्तु हृद्या नरकप्रदेशाः ॥ ७ ॥

नरकों के प्रदेश कादंब, कारंडव चक्रवाक, हंस आदि के कोलाहल से सुशोभित कमलों की उत्कट सुगंध वाले सरोवरों से मनोहर हों।

सोऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु तप्ता च भूः स्फाटिककुट्टिमं स्यात् ।
भवन्तु संघातमहीधराश्च पूजाविमानाः सुगतप्रपूर्णाः ॥ ८ ॥

वह अंगार राशि मणिराशि हो । तपी हुई भूमि स्फटिक-कुट्टिम हो । और संघात नरक के पर्वत बुद्धाधिष्ठित पूजाविमान हों ।

अंगारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिरद्यप्रभृत्यस्तु च पुष्पवृष्टिः ।
तच्छस्त्रयुद्धं च परस्परेण क्रीडार्थमद्यास्तु च पुष्पयुद्धं ॥ ९ ॥

अंगार, जलते पत्थर और शस्त्रों की वर्षा आज से पुष्पवर्षा हो और आपस का वह शस्त्रयुद्ध आज से क्रीड़ा के लिए पुष्पयुद्ध हो ।

पतितसकलमांसाः कुन्दवर्णास्थिदेहा दहनसमजलायां वैतरण्यां निमग्नाः ।
मम कुशलबलेन प्राप्तदिव्यात्मभावाः सह सुरवनिताभिः सन्तु मन्दाकिनीस्थाः ॥१०॥

अग्नि के समान दहकते जल वाली वैतरणी में डूबे हुए, सब का सब मांस गिर जाने से कुन्द के समान (श्वेत) वर्ण की हड्डियों के ढांचे वाले (प्राणी) मेरे पुण्य बल से दिव्य शरीर पाकर सुरांगनाओं के साथ मंदाकिनी में विहार करें ।

त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषाः काकगृध्राश्च घोरा
ध्वान्तं ध्वस्तं समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेयं ।
इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनतलतलं वज्रपाणिं ज्वलन्तं
दृष्ट्वा प्रामोद्यवेगाद् व्यपगतदुरिता यान्तु तेनैव सार्धं ॥ ११ ॥

भयंकर यमदूत, काक और गृध्र भयभीत हो अकस्मात् देखें कि चारों ओर का अंधेरा क्यों नष्ट हो गया (और) सुख-प्रीति उत्पन्न करने वाली यह सौम्य प्रभा किसकी है ? इस प्रकार ऊपर आकाश-तल को निहारते हुए, तेजस्वी वज्रपाणि (बोधिसत्त्व) को देख, मुदिता के वेग से निष्पाप हो, उनके साथ ही विचरण करें ।

पतति कमलवृष्टिर्गन्धपानीयमिश्राऽशमितनरकवह्निं दृश्यते नाशयन्ती ।
किमिदमिति सुखेनाह्लादितं नाम कस्माद् भवतु कमलपाणेर्दर्शनं नारकाणां ॥१२॥

सुगंधित जल के साथ कमलों * की वर्षा हो रही है (और) दहकती नरक की आग को बुझाती दिखाई पड़ती है । यह क्या ? सुख से (तन-मन सब) किस कारण आह्लादित हो गए ? यों (तर्क-वितर्क करते) नारकीयों को कमलपाणि (बोधि-सत्त्व) का दर्शन हो ।

आयातायात शीघ्रं भयमपनयत भ्रातरो जीविताः स्म
संप्राप्तो ऽस्माकमेष ज्वलदभयकरः कोऽपि चीरी कुमारः ।

---

* भोटपाठान्तर 'कुसुम' (मे-तोग्)

सर्वं यस्यानुभावाद् व्यसनमपगतं प्रीतिवेगाः प्रवृत्ता
जातं संबोधिचित्तं सकलजनपरित्राणमाता दया च ।। १३ ।।

आओ ! शीघ्र आओ !! भय दूर करो ! भाइयो, जान बच गयी ! हमारे लिए कोई यह चीरधारी, अभयकारी, तेजस्वी कुमार आ पहुँचा है, जिसके प्रताप से सब दुःख चला गया, प्रीति-वेग बहने लगा, संबोधि-चित्त उत्पन्न हुआ और सब प्राणियों को त्राण देने वाली दया माता ने जन्म लिया ।

पश्यन्त्वेनं भवन्तः सुरशतमुकुटै रर्च्यमानाङघ्रिपद्मं
कारुण्यादार्द्रदृष्टिं शिरसि निपतितानेकपुष्पौघवृष्टिं ।
कूटागारैर्मनोज्ञैः स्तुतिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतैर्
दृष्ट्वाग्रे मंजुघोषं भवतु कलकलः सांप्रतं नारकाणां ।। १४ ।।

स्तुतियों से मुखरित सुरांगनाओं के सहस्र-सहस्र गीतों से युक्त कूटागारों के साथ मंजुघोष बोधिसत्त्व को (अपने) आगे देख नारकीयों में यों कलकल हो--आप (सब) इन्हें देखिए, इनके चरण-कमल देवताओं के शत-शत मुकुटों से पूजित हो रहे हैं, इनके सिर पर नानाविध पुष्प-समूहों की वर्षा हो रही है, इनकी आंखें करुणा से आर्द्र हैं ।

इति मत्कुशलैः समन्तभद्रप्रमुखानावृतबोधिसत्त्वमेघान् ।
सुखशीतसुगं[धि]धवातवृष्टीनभिनन्दन्तु विलोक्य नारकास्ते ।। १५ ।।

इस प्रकार मेरे पुण्यों से सुखद, शीतल, सुगंधित पवन के साथ बरसने वाले, (क्लेशादि के) आवरण से हीन, समंतभद्र प्रमुख बोधिसत्त्वमेघों को देख नारकीय लोक अभिनन्दन करें ।

शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा नारकाणां भयानि च ।
दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्तां सर्वदुर्गतिवासिनः ।। १६ ।।

नारकीयों की दारुण वेदनाएं शांत हों, भय दूर हों। दुर्गतियों में फंसे सब (प्राणी) दुर्गतियों से छूट जायें ।

अन्योन्यभक्षणभयं तिरश्चामपगच्छतु ।
भवन्तु सुखिनः प्रेता यथोत्तरकुरौ नराः ।। १७ ।।

पशु-पक्षियों का परस्पर के भक्षण कर लेने का भय दूर हो। प्रेत उत्तर कुरु के मनुष्यों की भांति सुखी हों ।

संतर्प्यन्तां प्रेताः स्नाप्यन्तां शीतला भवन्तु सदा ।
आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभिः ।। १८ ।।

आर्य अवलोकितेश्वर के हाथों से छोड़ी गयी दूध की धाराओं से प्रेत सदा तृप्त हों, स्नान करें, शीतल हों ।

अंधाः पश्यन्तु रूपाणि श्रृण्वन्तु बधिराः सदा ।
गर्भिण्यश्च प्रसूयन्तां मायादेवीव निर्व्यथाः । १९ ।।

सदा अंधे रूप देखें, बहरे सुनें, माया देवी की भांति बिना व्यथा के गर्भवती (स्त्रियां) प्रसव कर।

वस्त्रभोजनपानीयं स्रक्चन्दनविभूषणं ।
मनोऽभिलषितं सर्वं लभन्तां हितसंहितं ॥ २० ॥

वस्त्र, भोजन, पेय, माला, चन्दन, आभूषण (तथा) हितकर सब मनोरथों का (सबको) सुलाभ हो।

भीताश्च निर्भयाः सन्तु शोकार्ताः प्रीतिलाभिनः ।
उद्विग्नाश्च निरुद्वेगा धृतिमन्तो भवन्तु च ॥ २१ ॥

भीत निर्भय हों, शोकपीड़ित आनंदलाभी हों, व्याकुल निराकुल एवं धृतिमान् हों।

आरोग्यं रोगिणामस्तु मुच्यन्तां सर्वबन्धनात् ।
दुर्बला बलिनः सन्तु स्निग्धचित्ताः परस्परं ॥ २२ ॥

रोगी नीरोग हों। (सभी) सब बन्धनों से मुक्त हों। दुर्बल बलवान हों और मन से एक दूसरे के प्रेमी हों।

सर्वा दिशः शिवाः सन्तु सर्वेषां पथि वर्तिनां ।
येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिध्यतु ॥२३॥

सब राहियों के लिए सब दिशाएं मंगलमय हों (जो) जिस कार्य से जाते हैं (उनका) वह (कार्य) उपाय से सिद्ध हो।

नौयानयात्रारूढाश्च सन्तु सिद्धमनोरथाः ।
क्षेमेण कूलमासाद्य रमन्तां सह बन्धुभिः ॥ २४ ॥

जहाज से यात्रा करने वालों के मनोरथ सिद्ध हों। (वे) कुशल से तीर पाकर बन्धुओं के साथ विहार करें।

कान्तारोन्मार्गपतिता लभन्तां सार्थसंगतिं ।
अश्रमेण च गच्छन्तु चौरव्याघ्रादिनिर्भयाः ॥ २५ ॥

कान्तार* में फंसे और राह भटके (लोगों) को काफिले का साथ मिले और वे चोर, व्याघ्र आदि के भय से रहित हो बिना श्रम जायें।

सुप्तप्रमत्तमत्तानां व्यध्वारण्यादिसंकटे ।
अनाथबालवृद्धानां रक्षां कुर्वन्तु देवताः ॥ २६ ॥

मार्गहीन जंगल आदि के संकट में सोए हुओं, माते हुओं, पवालों, अनाथों, और बाल-वृद्धों की देवता रक्षा करें।

सर्वाक्षणविनिर्मुक्ताः श्रद्धाप्रज्ञाकृपान्विताः ।
आकाराचारसंपन्नाः सन्तु जातिस्मराः सदा ॥ २७ ॥

---

* कान्तार=मरुस्थल; महारण्य; चोर-डाकुओं से भयावह प्रदेश।

(सभी) सब अक्षणों† से विनिर्मुक्त, श्रद्धा, प्रज्ञा और कृपा से युक्त, रूप-शील-सम्पन्न हो सदा (पूर्व-) जन्मों के स्मरणकारी हों।

भव त्वक्षयकोषाश्च यावद् गगनगंजवत्।
निर्द्वन्द्वा निरुपायासाः सन्तु स्वाधीनवृत्तयः ॥२८॥

आकाश-व्यापक कोष की भांति (सबका) कोष अक्षय हो। (सभी) द्वन्द्वरहित, क्लेशरहित हों। (सबकी) वृत्ति (=जीविका) अपने अधीन हो।

अल्पौजसश्च ये सत्वास्ते भवन्तु महौजसः।
भवन्तु रूपसंपन्ना ये विरूपास्तपस्विनः ॥ २९ ॥

जो प्राणी अल्प ओजस्वी हैं वे महान् ओजस्वी हों। जो विचारे कुरूप हैं वे सुन्दर हों।

याः काश्चन स्त्रियो लोके पुरुषत्वं व्रजन्तु ताः।
प्राप्नुवन्तु च तां नीचा हतमाना भवन्तु च ॥ ३० ॥

लोक में जितनी स्त्रियां हैं, वे पुरुष हो जायें। नीच (=पापी) उस (स्त्रीयोनि) को प्राप्त हों तथा मानरहित हों।

अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषतः।
विरम्य सर्वपापेभ्यः कुर्वन्तु कुशलं सदा ॥ ३१ ॥

इस मेरे पुण्य से सब प्राणी सब पापों से विरत होकर पुण्य कर।

बोधिचित्ताविरहिता बोधिचर्यापरायणाः।
बुद्धैः परिगृहीताश्च मारकर्मविवर्जिताः ॥ ३२ ॥
अप्रमेयायुषश्चैव सर्वसत्त्वा भवन्तु ते।
नित्यं जीवन्तु सुखिता मृत्युशब्दोऽपि नश्यतु ॥ ३३ ॥

वे सब प्राणी बोधिचित्त से (कभी) हीन न हों, बोधि-चर्या में रमे रहें, उन पर बुद्धों का अनुग्रह हो, वे मारकर्म (=पापकर्म) से दूर हों, उनकी आयु अपार हो, वे नित्य सुख से जीवित रहें और मृत्यु का शब्द तक नष्ट हो जाये।

रम्याः कल्पद्रुमोद्यानैः दिशः सर्वा भवन्तु च।
बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णधर्मध्वनिमनोहरैः ॥ ३४ ॥

सब दिशाएं बुद्ध और बोधिसत्त्वों से व्याप्त, धर्मध्वनि से मनोहर, कल्पवृक्षों के उपवनों से रमणीय हों।

शर्करादिव्यपेता च समा पाणितलोपमा।
मृद्वी च वैडूर्यमयी भूमिः सर्वत्र तिष्ठतु ॥ ३५ ॥

रोड़े आदि से रहित, हथेली के समान बराबर, कोमल और वैडूर्यमयी भूमि सर्वत्र हो।

† अक्षण के लिए देखिये पृष्ठ प्रथम पर टिप्पणी।

बोधिसत्त्वमहापर्षन्मंडलानि समन्ततः ।
निषीदन्तु स्वशोभाभिर्मण्डयन्तु महीतलं ।। ३६ ।।

बोधिसत्त्व-महापरिषद् की मंडलियां सब ओर बैठें और अपनी शोभा से भतल को अलंकृत करें ।

पक्षिभ्यः सर्ववृक्षेभ्यो रश्मिभ्यो गगनादपि ।
धर्मध्वनिरविश्रामं श्रूयतां सर्वदेहिभिः ।। ३७ ।।

सब देहधारियों को पक्षियों से, सब वृक्षों से, किरणों से और आकाश से भी धर्मध्वनि निरन्तर सुनाई पड़े ।

बुद्धबुद्धसुतैर्नित्यं लभन्तां ते समागमं ।
पूजामेघैरनन्तैश्च पूजयन्तु जगद्गुरुं ।। ३८ ।।

उन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वों का नित्य समागम प्राप्त हो और वे अनन्त पूजामेघों से जगद्गुरु की पूजा करें ।

देवो वर्षतु कालेन सस्यसंपत्तिरस्तु च ।
स्फीतो भवतु लोकश्च राजा भवतु धार्मिकः ।। ३९ ।।

समय पर देव बरसे । खेती संपन्न हो। लोग समृद्ध हों। राजा धार्मिक हो।

शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्राः सिद्ध्यन्तु जापिनां ।
भवन्तु करुणाविष्टा डाकिनीराक्षसादयः ।। ४० ।।

औषधियों में प्रभाव हो। जप करने वालों के मंत्र सिद्ध हों। डाकिनी, राक्षस आदि करुणारत हों ।

मा कश्चिद् दुःखितः सत्त्वो मा पापी मा च रोगितः ।
मा हीनः परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मनाः ।। ४१ ।।

कोई प्राणी न दुःखी हो, न पापी हो, न रोगी हो, न हीन हो, न तिरस्कृत हो और न दुष्टचित्त हो ।

पाठस्वाध्यायकलिला विहाराः सन्तु सुस्थिताः ।
नित्यं स्यात् संघसामग्री संघकार्यं च सिद्ध्यतु ।। ४२ ।।

विहार पाठ और स्वाध्याय से व्याप्त, शोभनावस्था में रहें। संघभेद कभी न हो और संघ कार्य सिद्ध हो ।

विवेकलाभिनः सन्तु शिक्षाकामाश्च भिक्षवः ।
कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु सर्वविक्षेपवर्जिताः ।। ४३ ।।

भिक्षु विवेकलाभी और शिक्षार्थी हों, सब विक्षेपों से रहित हों, कर्मण्य-चित्त होकर ध्यान करें ।

लाभिन्यः सन्तु भिक्षुण्यः कलहायासवर्जिताः ।।
भवन्त्वखंडशीलाश्च सर्वे प्रव्रजितास्तथा ।। ४४ ।।

भिक्षुणियों में कलह न हो, क्लेश न हो। (वे) लाभिनी हों। तथा सभी प्रव्रजितों का शील खंडित न हो।

दुःशीला सन्तु संविग्नाः पापक्षयरताः सदा।
सुगतेर्लाभिनः सन्तु तत्र चाखंडितव्रताः ॥ ४५ ॥

दुःशीलों में संवेग हो, वे सदा पाप-क्षय करने में रत हों और अखंडित-व्रती सुगति क लाभ करें।

पंडिताः सत्कृताः सन्तु लाभिनः पैण्डपातिकः ।
भवन्तु शुद्धसंतानाः सर्वदिक्ख्यतकीर्तयः ॥ ४६ ॥

पंडितों का सत्कार हो। (वे) लभी हों। (उन्हें) पिंडपात मिले। (उनका) जीवन-प्रवाह पवित्र हो। सब दिशाओं में (उनकी) कीर्ति फैले।

अभुक्त्वापायिकं दुःखं विना दुष्करचर्यया ।
दिव्येनैकेन कायेन जगद् बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

दुर्गति का दुःख बिना भोगे, दुष्करचर्या बिना किये, जगत् एक ही दिव्य-शरीर द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करे।

पूज्यन्तां सर्वसंबुद्धा सर्वसत्त्वैरनेकधा ।
अचिन्त्यबौद्धसौख्येन सुखिनः सन्तु भूयसा ॥ ४८ ॥

सब प्राणी सब संबुद्धों की अनेक प्रकार से पूजा करें और बोधि के अचिन्तनीय सुख से अत्यन्त सुखी हों।

सिध्यन्तु बोधिसत्त्वानां जगदर्थं मनोरथाः ।
यच्चिन्तयन्ति ते नाथास्तत्सत्त्वानां समृध्यतु ॥ ४९ ॥

जगत् के हित बोधिसत्वों के मनोरथ सफल हों। वे प्रभु प्राणिहित जो कुछ सोचें वह संपन्न हो।

प्रत्येकबुद्धाः सुखिनो भवन्तु श्रावकास्तथा ।
देवासुरनरैर्नित्यं पूज्यमानाः सगौरवैः ॥ ५० ॥

गौरव के साथ देव, असुर और मनुष्यों से पूजित हों, प्रत्येक बुद्ध और अर्हत् सुखी हों।

जातिस्मरत्वं प्रव्रज्यामहं च प्राप्नुयां सदा ।
यावत्प्रमुदिताभूमिं मंजुघोषपरिग्रहात् ॥ ५१ ॥

मंजुघोष के अनुग्रह से प्रमुदिता-भूमि तक मुझे सदा (पूर्व-) जन्मों का स्मरण रहे और प्रव्रज्या प्राप्त हो।

येन तेनाशनेनाहं यापयेयं बलान्वितः ।
विवेकवाससामग्रीं प्राप्नुयां सर्वजातिषु ॥ ५२ ॥

(मैं) सबल रहूं, जिस किसी भोजन से मेरा निर्वाह होता रहे, सब जन्मों में मुझे पूर्ण विवेकवास प्राप्त हो ।

यदा च द्रष्टुकामः स्यां प्रष्टुकामश्च किंचन ।
तमेव नाथं पश्येयं मंजुनाथमविघ्नतः ।। ५३ ।।

जब मुझे देखने या कुछ पूछने की इच्छा हो तो उन प्रभु मंजुनाथ को बिना विघ्न-बाधा के देखूं ।

दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने ।
यथा चरति मंजुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम ।। ५४ ।।

दश दिशाओं के आकाश के अन्त तक के अखिल प्राणियों का हित-साधन करने में जैसी चर्या मंजुश्री की होती है, वही चर्या मेरी हो ।

आकाशस्य स्थितिर्यावद् यावच्च जगतः स्थितिः ।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज् जगद्दुःखानि निघ्नतः ।।५५।।

जब तक आकाश की स्थिति रहे, जब तक जगत् की स्थिति रहे, तब तक जगत् का दुःख नाश करते हुए मेरी स्थिति रहे ।

यत्किंचिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यतां ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ।। ५६ ।।

जगत् का जो कुछ दुःख है वह सब मैं भोगूं और बोधिसत्त्व के सब पुण्यों से जगत् सुखी हो ।

जगद्दुःखकभैषज्यं सर्वसंपत्सुखाकरं ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनं ।। ५७ ।।

जगत् के दुःखों का एकमात्र औषध , सब संपत्तियों और सुखों का आकर, (बुद्ध का) शासन लाभ और सत्कार के साथ चिर तक ठहरे ।

मंजुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मतिः शुभे ।
कल्याणमित्रं वन्देऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते ।। ५८ ।।

जिनकी कृपा से पुण्य में मति होती है, उन मंजुघोष को नमस्कार करता हूँ और जिनकी कृपा से (पुण्य की) वृद्धि होती है उन कल्याणमित्र की वन्दना करता हूँ ।

।। परिनिष्ठित ।।

परिशिष्ट

बोधिचर्यावतार के प्रारंभ म ही धर्मकाय का उल्लेख है तथा नवम परिच्छेद में बुद्धवचन पर कुछ चर्चा हुई है। इन दोनों विषयों पर कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए बुद्धकाय तथा बुद्धवचन शीर्षक दो परिशिष्ट जोड़े जा रहे हैं।

(१)

बुद्धकाय

ऐतिहासिक बुद्ध और उपास्य बुद्ध दोनों एक नहीं हैं। दोनों में देश-भेद है, काल-भेद है, जाति-कुल भेद है, देशना-भेद है तथा कायभेद है।

ऐतिहासिक बुद्ध का जन्म लुंबिनी में और पालन-पोषण कपिलवस्तु में हुआ। वहीं उनका बचपन बीता। कुछ दिन वहीं उन्होंने वैवाहिक जीवन का भी उपभोग किया। वहीं से भरे यौवन में "माता-पिता को अश्रुमुख रोते"१ छोड़ वे प्रव्रजित हुए। आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र से समापत्तियां सीखीं, पर उन्हें संतोष न हुआ। मगध में चारिका करते-करते वे उरुवेला पहुँचे और देखा कि "यह भूमिभाग रमणीय है, यह वनखंड प्रासादिक है, श्वेत, सुन्दर घाट वाली रमणीय नदी बह रही है, चारों ओर फिरने के लिए गांव हैं, ध्यान-रत होने के लिए बहुत उपयोगी है।"२ उसी प्रदेश में बोधिवृक्ष के नीचे बोधि प्राप्त की। वहां से चारिका करते वाराणसी प्रदेश में ऋषिपतन (सारनाथ) पहुँच धर्मचक्रप्रवर्तन किया। मध्यदेश में "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय"३ विचरते-विचरते कुशीनगर में उनका महापरिनिर्वाण हुआ।

जन्म, बोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण की महा घटनायें कितनी ही ऐतिहासिक क्यों न हों, हैं सब मायामय, क्योंकि उपास्य बुद्ध जन्मादि सभी विकारों से परे हैं। उपास्य बुद्ध का आविर्भाव और तिरोभाव दोनों ही परमार्थ में नहीं हैं। ४" पर आविर्भाव और तिरोभाव मायामय होते हुए भी, मृषा होते हुए भी, सप्रयोजन हैं। उसे दृष्टान्त द्वारा यों बताया गया है--"किसी वैद्य के बहुत से लड़के हैं। वैद्य प्रवास में है। इस बीच लड़के कोई विषैली चीज खाकर बीमार हो जाते हैं। वैद्य आकर उन्हें भैषज्य देता है। उन लड़कों में जिनका होश-हवाश दुरुस्त है वे तो भैषज्य पीकर ठीक हो जाते हैं। पर जो बहुत-कुछ पगले हैं वे नहीं पीते। समझाये जाने पर भी अपने पिता वैद्य की बात नहीं मानते। उनके लिए उनका पिता उपाय से काम लेता है। किसी दूसरे देश में जाकर वहां से खबर भिजवा देता है कि उसका देहान्त हो गया। इस खबर से उन्हें शोक होता है और उनके कुछ होश-हवाश दुरुस्त हो जाते हैं। तब वे भी वह भैषज्य पीकर ठीक हो जाते हैं। उनके ठीक हो जाने पर वह वैद्य फिर घर आता है।०००० (इसी प्रकार मेरा भी) यह उपाय है जो मैं अपना निर्वाण दिखाता हूँ पर निर्वृत्त नहीं होता"।५

ऐतिहासिक बुद्ध ने अपने जीवन के अस्सी वर्ष मध्य देश में बिताये, पर

१-मज्झिमनिकाय (राहुल सांकृत्यायन) पृष्ठ १०४। २-वही पृष्ठ १०५। ३-विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन) पृष्ठ ८७। ४-सद्धर्मपुण्डरीक, तथागतायुष्प्रमाण परिवर्तन में इस बात को नाना प्रकार से व्यक्त किया गया है। ५-महायान पृष्ठ ६७।

उपास्य बुद्ध की आयु अपरिमित है, "चिराभिसंबुद्धोऽपरिमितायुष्प्रमाणं तथागतः सदा स्थितः ६" सनातन होते हुए भी तथागत अपने आपको सदा न रहने वाला दिखाते हैं। उसका कारण है । यहीं पर तथागत यदि अतिचिर रहें, तो प्राणी उन्हें निरन्तर देखेंगे, और मन में यह सोच कर कि मेरे उद्धार के लिए तथागत हैं ही, स्वयं कुछ न करेंगे और तथागत को कभी भी दुर्लभ न समझेंगे ।७

ऐतिहासिक तथागत को लोग शाक्यमुनि कहते हैं क्योंकि शाक्यकुल से प्रव्रजित हुए थे। जन्म से वे क्षत्रिय थे। उपास्य बुद्ध को इस प्रकार नहीं देखा जाता। उपास्य बुद्ध को धर्मकाय से देखा जाता है ?। "धर्मकायास्थागताः" ।८ जिन्होंने तथागत को रूप के द्वारा देखा, घोष (ध्वनि) के द्वारा उनके अनुगामी हुए । वे बेकार मेहनत करते रहे, पर तथागत को न देख पाये"----

ये मां रूपेण चाद्रक्षुर्ये मां घोषेण चान्वगुः। मिथ्याप्रहाण ९ प्रसृता न मां पश्यन्ति ते जनाः।।१०

ऐतिह्यपरायण बौद्धों का कहना है कि तथागत ने तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन ऋषिपतन में हुआ । इसमें श्रावकयान एवं प्रत्येकबुद्धयान का भगवान् ने उपदेश दिया।११ दूसरा धर्मचक्र प्रवर्तन गृध्रकूट पर किया । इनमें बोधिसत्वयान का भगवान् ने उपदेश दिया।१२ इन दोनों में प्रथम परिवर्तित धर्म का नाम हीनयान है और पश्चात्प्रवर्तित का नाम महायान । महायान ही वस्तुतः एकमात्र बुद्धयान है। यह बात बहुत बल देकर कही गयी है। "इस लोक में एक ही यान है, दूसरा या तीसरा यान नहीं है। पुरुषोत्तम तथागत जो नाना यान की देशना करते हैं वह तो उपायमात्र है। लोकनाथ तथागत बौद्ध-ज्ञान के प्रकाशन के लिए लोक में उत्पन्न होते हैं। वे दूसरा कुछ कार्य नहीं करते। केवल एक यही कार्य करते हैं। बुद्ध हीनयान द्वारा प्राणियों को विनीत नहीं करते।

एकं हि यानं द्वितियं न विद्यते तृतीयं हि नैवास्ति कदाचि लोके।
अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यद्याननानात्वुपदर्शयन्ति ।।
बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथः।
एकं हि कार्यं द्वितियं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ।।१३

तीसरा धर्मचक्रप्रवर्तन धान्यकटक में हुआ। इसमें भगवान् ने तन्त्र का उपदेश दिया । यह तन्त्रयान ही मंत्रयान, वज्रयान, श्रीकालचक्रयान, सहजयान आदि विभिन्न रूपों में परिगत हुआ है ।

हीनयान, महायान और तंत्रयान--तीनों ही रहस्यवादी हैं। पर रहस्य पर पहुँचने के लिए उनके साधन भिन्न-भिन्न हैं। स्वमोक्ष हीनयानियों का ध्येय है । वे शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा उस तक पहुँचना चाहते हैं। सर्वसत्वमोक्ष महायानियों का ध्येय है । प्राणियों को दुःखनिर्मुक्त होते देख, जिस आनन्द-सागर में गोते लगाने को मिलते हैं, वही क्या कम है जो नीरस मोक्ष का पीछा किया जाए।

६—सर्द्धमपुण्डरीक पृष्ठ ३१८, ३१९,। वही ३१९। ८—अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पृष्ठ ५१३। ९—प्रहाण=वीर्य=उद्योग (बौद्ध पारिभाषिक शब्द)। १०—वज्रच्छेदिका। ११—धर्मचक्रप्रवर्तन-सूत्र। १२—सर्द्धमपुण्डरीक नामक धर्मपर्याय। १३—सद्धर्मपुंडरीक पृष्ठ ४६।

मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः। तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किं ॥१४

पर महायानियों का सर्वसत्वसुखार्थ प्रयत्न परम ध्येय नहीं। यह तो साधन-मात्र है। बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए। और इसके निमित उनकी सब चर्या है। बोधि-सत्त्वव्रत लेकर अपने शरीर और भोगों को प्राणिहित के लिए निछावर करना केवल बुद्धत्व-प्राप्ति का उपाय है। बुद्धत्व प्राप्ति ही तन्त्रयानी का चरम ध्येय है पर उसका विचार है कि--दुष्कर एवं तीव्र नियमों के द्वारा साधना करने वाला सिद्धि नहीं पाता, पर सब कामों का उपभोग करते हुए शीघ्र ही सिद्धि पा जाता है। इच्छानुसार सब कामोपभोगों के साथ-साथ साधना करना ऐसा योग है जिससे शीघ्र बुद्धत्व-प्राप्ति हो जाती है--

दुष्करैर्नियमस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति। सर्वकामोपभोगेस्तु सेवयंश्चाशु सिद्धयति।।
सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैयथेच्छतः। अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात्॥ १५

देशना में यह सब भेद-प्रपंच ऐतिहासिक बुद्ध को दृष्टि में रख कर हुआ है। उपास्य बुद्ध तो इन सब भेदों से परे हैं। क्योंकि उपास्य बुद्ध देशना करते ही नहीं। स्पष्ट ही इस बात की घोषणा की गयी है --"नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम्।"१६ जो परम रहस्य का उपासक है वह इस तत्व को समझता है और गद्गद् होकर कह उठता है--"हे प्रभु, तुमने एक भी अक्षर नहीं कहा, पर अपने सभी शिष्यों को धर्मवर्षा से तृप्त कर दिया --

नोदाहृतं त्वया किंचिदेकमप्यक्षरं विभो। कृत्स्नश्च वैनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पितः॥१७

यह सर्वथा शांत, सर्वथा मौन, अविर्भाव एवं तिरोभाव तथा प्रादुर्भाव एवं परिनिर्वाण से परे, इतिहास द्वारा अस्पृश्य, वाणी द्वारा अनभिव्यज्य बुद्ध-तत्त्व उपासना का विषय तभी बन पाता है जब उसे येन-केन प्रकारेण वाग्विषय बना लिया जाता है।

इस उपास्य बुद्ध का चार व्यूहों में निरूपण किया गया। प्रत्येक व्यूह को पारिभाषिक भाषा में काय कहते हैं। बुद्ध का स्वाभाविककाय धर्मों की प्रकृति है पर सब धर्मों की नहीं। केवल उन धर्मों की जो निरास्रव (कामादिक्लेशरहित) हैं, जो सब प्रकार की विशुद्धि को प्राप्त हो चुके हैं --

सर्वाकारां विशुद्धिं ये धर्माः प्राप्ता निरास्रवाः।
स्वाभाविको मुनेः कायस्तेषां प्रकृतिलक्षणः ॥१८

यह काय जिन परिशुद्ध धर्मों की प्रकृति है उनके व्यूह का नाम धर्मकाय है। स्वाभाविककाय अकारित्र है, पर धर्मकाय सकारित्र है। यह सर्वदा सर्वभूतहित-रत है। पर ये दोनों काय पुरुषविध नहीं हैं।

सर्वभूतहितरत धर्मकाय जब पुरुषविध होकर लोक-कल्याण करने लगता है तब उसे संभोगकाय कहते हैं। यह काय नाना प्रकार के लक्षणों और अनुव्यंजनों से विभूषित होता है। बौद्ध शिल्पिगणों ने इन्हीं लक्षणों और अनुव्यंजनों के सहारे तथागत को प्रतिमा और चित्रों में व्यक्त किया है। जो कारित्र (कर्म) धर्मकाय का है

१४--बोधिचर्यावतार। १५--गुह्य समाज पृष्ठ २७। १६--लंकावतार सूत्र पृष्ठ १४४। १७--अद्वयवज्रसंग्रह पृष्ठ २२। १८--अभिसमयालंकारालोक पृष्ट ५२१।

वही इसका है । पर धर्मकाय अरूपी है । यह रूपवान् है। धर्मकाय अपुरुषविध है, यह पुरुषविध है । धर्मकाय निराकार है, यह साकार है। धर्मकाय अव्यक्त है, यह व्यक्त है ।

इस व्यक्त का दर्शन हम जिन शाक्यमुनि आदि बुद्धों में करते हैं, उनका नाम निर्माणकाय है। जब तक संसार है तब तक निर्माणकायों की परम्परा उच्छिन्न नहीं होती और इन निर्माणकायों के द्वारा ही बुद्ध जगत् का बहुविध साधन करते हैं--

करोति येन चित्राणि हितानि जगतः समम् ।
आभवात्सोऽनुपच्छिन्नः कायो नैर्माणिको मुनेः ।।१९

ज्ञानी धर्मकाय और स्वाभाविक काय के रहस्य में डूबा रहता है । पर भक्त को संभोगकाय और निर्माणकाय अधिक प्रिय हैं। और प्रिय इसलिए हैं कि उसका भक्तिभावित हृदय उन्हें अपने मन और वचन का विषय बना लेता है । वह कह उठता है --

"सदा सभी अवस्थाओं में जो सब दोषों से रहित है, जिसमें सभी प्रकार से सब गुण हैं । यदि चेतना है तो उसकी शरण जाना चाहिए, उसकी स्तुति करनी चाहिए, उसकी उपासना करनी चाहिए, उसी के शासन में रहना चाहिए ।-- तुम सहज ही साधु हो, स्वभाव से ही वत्सल हो, परिचय बिना भी तुम मित्र हो निश्छल बांधव हो । श्रेष्ठों के प्रति तुम्हारी ईर्ष्या नहीं है, हीनों के प्रति तुम्हारी अवज्ञा नहीं है, बराबर वालों के प्रति तुम्हारी स्पर्धा नहीं है, फिर भी तुम लोक में श्रेष्ठ हो। तुमने तीन को जीता--रागियों को वैराग्य से, क्रोधियों को निष्क्रोध, (मैत्री) से और अज्ञानियों को ज्ञान से। जिसने तुम्हें सैकड़ों बार देखा तथा जिसे पहले-पहल देखने का अवसर मिला, उन दोनों की आंखों को समान भाव से तुम्हारा रूप प्रिय लगता ह । तुम्हारी वाणी त्रिविध कल्याणमयी है, वह सत्य है क्योंकि वह जिस अर्थ को बतलाती है, उसका साक्षात्कार हो सकता है; वह अनाकुल है क्योंकि उसमें (रागादि) क्लेश नहीं है; वह बोध कराने वाली है क्योंकि उसका सम्यक् प्रयोग है। तुम गुणों के रत्नाकर हो, तुम्हारा रूप दृश्य वस्तुओं में रत्न है, तुम्हारा सुभाषित श्रव्य वस्तुओं में रत्न है, तुम्हारा धर्म ध्येय वस्तुओं में रत्न है। बुद्धधर्मों में ऐसा कुछ नहीं जो अद्भुत न हो, स्थिति अद्भुत है, वृत्त अद्भुत है, रूप अद्भुत है, गुण अद्भुत है।--

सर्वदा सर्वथा सर्वे यस्य दोषा न सन्ति ह । सर्वे सर्वाभिसारेण यत्र चावस्थिता गुणाः ।।
तमेव शरणं गन्तुं तं स्तोतुं तमुपासितुम् । तस्यैव शासने स्थातुं न्याय्यं यद्यस्ति चेतना ।।
अव्यापारितसाधुस्त्वं त्वमकारणवत्सलः । असंस्तुतसखश्च त्वमनवस्कृतबान्धवः ।।
अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनान् अनवमत्य च । अगत्वा सदृशैः स्पर्द्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः ।।
सरागो वीतरागेण जितरोषण रोषणः । मूढो विगतमोहेन त्रिभिर्नित्यं जितास्त्रयः।।
येनापि शतशो दृष्टं योऽपि तत् पूर्वमीक्षते । रूपं प्रीणाति ते चक्षुः समं तदुभयोरपि ।।
दृष्टार्थत्वादवितथं निःक्लेशत्वादनाकुलम् । गमकं सुप्रयुक्तत्वात् त्रिकल्याणं हि ते वचः ।।

१९-वही पृष्ठ ५३२ ।

रूपं द्रष्टव्यरत्नं ते श्रव्यरत्नं सुभाषितम्। धर्मो विचारणारत्नं गुणरत्नाकरो ह्यसि ॥
अहो स्थितिरहो वृत्तमहो रूपमहो गुणाः। न नाम बुद्धधर्माणमस्ति किंचिदनद्भुतम्॥२०

एवं जो ऐतिहासिक बुद्ध है वही उपास्य बुद्धि नहीं। उपास्य बुद्धि की कलामात्र में ऐतिहासिक बुद्ध की स्वरूप प्रतिष्ठा होती है। उपास्य बुद्ध चतुष्काय है पर ऐतिहासिक बुद्ध का काय केवल एक है और वह भी पार्शिव।

(२)

बुद्धवचन

यत् किंचित् सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम् ।१

'प्रत्येक सुभाषित बुद्धवचन है।'

सब्बं. . . . पुब्बेकतहेतुहि . . . मिच्छाति वदामि।२

सब पुरबली करनी का फल है—इस बात को मैं मिथ्या कहता हूँ।

तापाच् छेदाच् च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात् ॥३

'जैसे पंडित जन सोने को तपाकर, काटकर, कसौटी पर कस कर परखते हैं और फिर उसे ग्रहण करते हैं वैसे ही हे भिक्षुओ! मेरे वचनों को परख कर ग्रहण करो, भक्तिवश (उन पर विश्वास न करो)।'

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ॥४

'जो वचन अर्थवत् है, धर्मपदों से युक्त है, तीनों लोकों के (राग, द्वेष एवं मोह रूपी) क्लेशों का नाश करता है, जो शांति की अनुशंसा बखान करता है; वही बुद्धवचन है। जो ऐसा नहीं, वह बुद्धवचन (भी) नहीं।'

'वादं च जातं मुनि नो उपेति।'

जहां कलह-विवाद होता है, वहां मुनि नहीं फटकता।

सभी सुभाषित जो चित्त को शांत करते हैं, बुद्धवचन हैं। फलतः आगमान्तरों में जितने प्रासादिक वचन हैं, वे सब बुद्धवचन हैं। इस दृष्टि से वेदवचन जिनमें हिंसादि दोष नहीं हैं। उन्हें बुद्धवचन माना जाता है। इसीलिए बौद्ध-परम्परा में ख्याति है कि ऋषियों ने दिव्यचक्षु से देख कर भगवान् काश्यप सम्यक् संबुद्ध के

२०—मातृचेटकृत अध्यर्धशतक से उद्धृत।
१. बोधिचर्यावतार पंजिका पृष्ठ ४३२ पर उद्धृत।
२. संयुक्तनिकायवचन, मिलिन्दपञ्ह पृष्ठ १३७ पर उद्धृत।
३. तत्त्वसंग्रहटीका पृष्ठ १२ पर उद्धृत।
४. बोधिचर्यावतारपंजिका पृष्ठ ४३२ पर उद्धृत।

वचन के साथ मिलाकर मंत्रों को पर-हिंसा-शून्य ग्रथित किया था । दूसरे ब्राह्मणों ने प्राणिहिंसा आदि डालकर, तीन वेद बना, बुद्धवचन से विरुद्ध कर दिया । वेद-वचनों में जो शांतभाव पाया जाता है, वह बुद्धवचन में ओतप्रोत है । वेद में जो अशांतभाव है, उसका प्रत्याख्यान बुद्धवचनों में मिलता है ।

वैदिक हिंसा को लक्ष्य में रख कर कहा गया है--

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानां अरियोति पवुच्चति ॥५

'(यज्ञादि में) जो प्राणिहिंसा की जाती है, उससे कोई आर्य नहीं होता । सब प्राणियों की अहिंसा (में जो रत है) उसे आर्य कहा जाता है ।'

वैदिक-वर्ण-व्यवस्था पर भी 'न जच्चा ब्राह्मणो होति' 'विज्जाचरणसंपन्नो सो सेट्ठो देव मानुसे।'७

कह कर आलोचना की गयी है । वस्तुतः जो भी समाज अहिंसा के आधार पर संगठित होगा, उसमें वर्णभेद को स्थान नहीं हो सकता । वर्णभेद का मूल अंधविश्वास ही नहीं, प्रत्युत स्वार्थ की भावना भी है। शूद्रों के विषय में जो भी मनु ने कहा है, उस पर एक बार दृष्टि पड़ते ही यह बात मन में दृढ़ हो जाती है ।

इस वर्णवाद को युक्ति से सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया गया है । बुद्ध-युग में ब्राह्मणों का कहना था कि ब्राह्मण इसलिए श्रेष्ठ हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं । श्रेष्ठता सिद्ध करने के इस तर्क को बुद्धयुग में असंगत नहीं माना जाता था । पर बुद्ध ने इस तर्क का प्रत्याख्यान करते हुए (मज्झिमनिकाय के अस्सलायन सुत्त में) कहा है--"आश्वलायन, तुमने अवश्य देखा होगा कि ब्राह्मणों के घर ब्राह्मणी स्त्रियां ऋतुमती होती हैं, गर्भ धारण करती हैं, प्रसव करती हैं, अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं। तब इस प्रकार स्त्री की योनि से उत्पन्न होते हुए भी ब्राह्मण लोग ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का बड़प्पन और अहंकार क्यों करते हैं ?"

एक और भी तर्क है--जिन्होंने पूर्व जन्म में उत्तम कर्म किये थे उन्हें उत्तम योनि मिली और जिन्होंने खराब काम किये थे उन्हें खराब योनि मिली (रमणीयाचरणा रमणीयां योनिम्, कपूयाचरणाः कपूयां योनिम्)८। इस तर्क के भीतर यह कुत्सित भावना छिपी है कि हम द्विज पुर्वजन्म के पुण्यात्मा हैं तथा ये शूद्र और अन्त्यज पूर्वजन्म के पापी हैं । हम पुण्यात्माओं का सुख-भोग हमारे पुण्य का फल है तथा इन पापियों को जो दुःख मिल रहा है, वह ठीक ही है, इनके कर्म ही ऐसे रहे हैं ।

इस तर्क के चक्कर में सभी फँसे हैं । तथागत की दृष्टि इस तर्क पर भी

---

५. धम्मपद १९।१५
६. धम्मपद २६।११
७. दीघनिकाय सुत्त संख्या ३ (अंबट्ठ सुत्त) ।
८. छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।७,

गयी थी। बुद्ध के पूर्ववर्ती विचारक कर्मवाद जैसा मानते थे वैसा बुद्ध ने नहीं माना है । मिलिन्दप्रश्न में इस कर्मवाद के बारे में मिलिन्द और भदन्त नागसेन का संवाद है । संवाद बड़ा रोचक है और वह बुद्ध के जीवन की एक घटना से संबंध रखता है। देवदत्त ने सोचा कि श्रमण गौतम को जान से मार दूं। उसने एक शिला फेंकी, पर शिला दो बड़े पत्थरों के बीच में आ जाने से बुद्ध तक न पहुँची । फिर भी पत्थरों से टक्कर खाने के कारण एक पपड़ी उछली और बुद्ध के पैर में आ लगी । बुद्ध को बड़ी चोट आयी, पैर से खून भी बह निकला । इस घटना को ध्यान में रख कर मिलिन्द ने नागसेन से पूछा--क्या सभी अकुशल कर्मों के समाप्त हो जाने पर बुद्धता मिलती है या कुछ कर्म बच रहते हैं । नागसेन ने कहा--सभी अकुशल कर्म समाप्त हो जाने पर बुद्धता मिलती है । बुद्ध के अकुशल कर्म शेष नहीं रहते। नागसेन के ऐसा कहने पर मिलिन्द ने कहा--बुद्ध को पैर में चोट लगने से पीड़ा हुई थी। यदि यह कहो कि सब अकुशल कर्म समाप्त हो गये थे तो यह कहना कि बुद्ध को पैर में चोट लगने से दुःख हुआ था, यह बात मिथ्या है । और, यदि कहो कि पैर में चोट लगी थी तो यह कहना मिथ्या है कि उनके कर्मफल समाप्त हो गये थे। क्योंकि संसार में जो कुछ दुःख होता है, वह कर्म ही के कारण है।

इस पर नागसेन ने बुद्धवचनों का तात्पर्य बताते हुए कहा कि सब दुःख पूर्वकर्म के कारण नहीं होते । प्राणियों के दुःख के आठ कारण हैं--वात, पित्त, कफ, संन्निपात, ऋतु परिणाम, विषमाहार, उपक्रम, और कर्मविपाक। यदि पित्त आदि द्वारा उत्पन्न पीड़ा भी कर्मफल के कारण होती तो दुनिया में न तो इलाज हो सकता और न उनके अलग-अलग निदान होते । वात का प्रकोप दस कारणों से होता है--सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अतिभोजन, देर तक खड़े रहना, अधिक श्रम और दौड़ना। कर्मफल से भी वात का प्रकोप होता है । पर इन में जो नौ कारणों से वात का प्रकोप होता है, वह इसी भव में होता है, उसका पूर्वभव से संबंध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक कारण की व्याख्या करके नागसेन ने कहा--'न सब्बा वेदना कम्मविपाकजा अप्पं कम्मविपाकजं, बहुतरं अवसेसं।२ अर्थात् सब वेदनाएँ कर्मविपाक के कारण नहीं होतीं । कर्मविपाक से थोड़ा ही (दुःख) होता है, बहुत-सा तो दूसरे कारणों से ही होता है । इसीलिए भगवान् ने कहा है--

"ये ते समणब्राह्मणा एवंवादिनो यं किं चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं पुब्बेकतहेतुहि । यं सामं तं अतिधावन्ति तस्मा तेसं समणब्राह्मणानं मिच्छाति वदामि ।९

(ये ते श्रमणब्राह्मणा एवंवादिनो यत् किंचित् अयं पुरुषपुद्गलः। प्रतिसंवेत्ति सुखं वा दुःखं वा अदुःखमसुखं वा सर्वं तत् पूर्वकृतहेतुभिः (ते) यत् सम्यक् तद् अतिधावन्ति। तस्मात् तेषां श्रमणब्राह्मणानां (मतम्) मिथ्येति वदामि।)

९. मिलिन्दपञ्ह १३५ तथा १३६,

१०. संयुक्तनिकायवचन , मिलिन्दपञ्ह पृष्ठ १३७ पर उद्धृत ।

अर्थात् जो साधु-ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि पुरुष का सब दुःख-सुख उसके पूर्व कर्मों के कारण है, वे जो बात ठीक है, उसका अतिक्रमण करते हैं। सो उन साधु-ब्राह्मणों का वह कहना मिथ्या है।

कर्मफलवाद की यह नयी व्याख्या थी। इस व्याख्या के सहारे, कर्मवाद के आधार पर, कोई किसी को नहीं दुत्कार सकता कि वह पूर्वजन्म का पापी है। बुद्ध के अनुसार वर्णव्यवस्था काल्पनिक है और यहीं की गढ़ी हुई वस्तु है। वर्ण-व्यवस्था आदि संकीर्णता, साम्प्रदायिकता भेद-भाव तथा देश-देशान्तर में प्रचलित रंगभेद आदि सब प्रकार की सामाजिक विषमताओं से दूर, कुल, जाति, राष्ट्र आदि के अभिमान से निर्लिप्त जो भी वचन विश्व-मानव की एकता और मैत्री का प्रतिपादक है, वह बुद्धवचन है। बुद्धवचन सदाचरण के अतिरिक्त अन्य किसी बंधन में मनुष्य को नहीं बांधता। इस सदाचरण का प्रधान लक्षण है न अपने को सताना और न दूसरे को। इसीलिए आर्यदेव ने कहा है—

धर्म समासतो ऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः (चतुःशतक)।

इस धर्म का जिस वाणी द्वारा प्रकाश होता है, वह बुद्धवचन है।

श्लोकानुक्रमणी

(दंड से पूर्व की संख्या परिच्छेदांक है और पर की श्लोकांक ।)

फ

ब

अनुक्रमणी

मूलग्रन्थ तथा भूमिका में आए विशेष शब्दों एवं विषयों के अतिरिक्त कितने ही सामान्य शब्द भी इस अनुक्रमणी में सम्मिलित कर लिए गये हैं। इसमें व्यवहृत संकेतों का विवरण यों है:--अ=अलंकारपरक प्रयोग; आ=आचार्य; अति=अतिकथात्मक स्वर्गनरकादिविषयक शब्द; ऋ=ऋषि; जा=जाति; टि=टिप्पणी; टी=टीका; दे=देश; प=परिभाषा या पारिभाषिक शब्द; ना=नाम; बु=बुद्धपर्याय; बो=बोधिसत्त्वपर्याय; भू=भूमिका; शा=शास्त्र; सू=सूत्र; एक से अधिक संकेतों के बीच संबंध दिखाने के लिए समास चिन्ह (Hyphen) का प्रयोग हुआ है। यथा--बो-ना=बोधिसत्त्व नाम इत्यादि। अनुक्रमणी में कितने ही शब्दों का अर्थविवरण भी कर दिया गया है।

Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शुद्धिपत्र

भूमिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१८,१९	ऋषि	ऋषि
२	२८	इन	इस
५	१७	प्रक्रिया	प्रतिक्रिया
६	१६	(ई)	(इ)
	२१	ऋषियों	ऋषियों
	२५	ऋषियों	ऋषियों
	२६	ऋषियों	ऋषियों
१२	१८	ब्रहम	ब्रह्‌म
१५	२८, २९	बात थी	बात न थी
१९	८	हम ऊपर देख चुके हैं कि	परित्राण के लिए
	३२	प्रव्या	प्रत्या-
२१	३२	वज्चित्त	वज्रचित्त
	३५	यदीच्छते	यदीच्छसे
२६	१८	गयु-बुद्ध	बुद्धयुग
	२७	ब्राहमण	ब्राह्‌मण
२७	ब्राहम०	में हकार को हलन्त करके पढ़िए	
	१४	स्त्रिणां	स्त्रीणां
३३	१०	निवति	निवृत्ति
३६	३०	--एकातवाद	--एकान्तवाद
४०	१९,२०	नित्यात्मावाद	नित्यात्मवाद
४६	२	स्थिर नहीं	स्थिर एवं अनुगत नहीं
	२६	प्रत्युत्	प्रत्युत
	(प्रत्युत शब्द हलन्त नहीं होता है, अन्यत्र भी यदि हलन्त छपा हो तो वहां भी हलन्त-चिह्‌न हटाकर शुद्ध कीजिए।)		
४७	३०	अर्थातु	अर्थात्

मूलग्रन्थ और अनुवाद

संकेत--अनु=अनुवाद

पृष्ठ	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१३	५३	यमूदतादयो	यमदूतादयो
२३	२० अनु	छद	छेद
२४	३०	तऽपि	तेऽपि
२५	३४	दुःखसमूह	दुःख की बांढ़
२९	१५	०दिक	०दिकं
३२	३४ अनु	मुझ	मुझे
	३७	महुः	मुहुः

पृष्ठ	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
३५	५७ अनु	ऋद्धि	ऋद्धि
४०	९३	दृष्ट्दा पृष्ट्दा	दृष्ट्वा पृष्ट्वा
	९४	०प्ये०	०प्येव०
५०	५५	०करि०	०कारि०
५६	१०३	०द्वेषेण	० दोषेण
	(अन्तिम पंक्ति)	यत	यतः ॥१०८॥
६०	१३१	हयनुभूयते	हचनुभूयते
	१३२	वेत्	भवेत
६२	९	०च्छ०	०च्छ्०
६४	२५	अदौ	आदौ
	२७	पांडित०	पंडित०
	३०	सचतनः	सचेतनः
६५	३१	–स्थान	–स्थाम–
६६	(पंक्ति १८)	४७	४१
६९	५७	परि०	पर०
७०	६५	प्राप्र०	प्राप्त०
८३	९५	यना०	येना०
८४	(पादटिप्पणी)	पाठान्तरक्त्मापि	चेदात्मनि के स्थान पर पाठान्तर चेदात्मापि
८७	११८ अनु	०श्वयर	श्वर
८९	१३५	०नप०	०नम्रप०
९२	(पंक्ति २२)	१५०	१६०
९३	१६३	सत्वा०	सत्व०
९४	१७३	० गत्मनि	०त्मनि
९७	(द्वितीय शीर्षक)	व्यप०	व्यव०
९८	७	हि	च
१०५	(पादटिप्पणी †)	कतम०	कतमै०
१०६	४८	वेदन०	वेदनै०
१०७	५१	० तुल्य०	०तुल्ये०
१०८	५५	०तमः प्रति०	०तमः प्रति०
१०९	६१	ज्ञयं	ज्ञेयं
११२	७४	चित्त	चित्तं
११७	९६	निरशत्वं	निरंशत्वं
१२८	१६१	सुदुर्लभाः	सुदुर्लभः
१२९	१६२	०बाहुत्याद्	बाहुल्याद्
१३७	४८	०बुद्धा	बुद्धाः
	५०	०बद्धाः	बुद्धाः
